विचार-वल्लरी

विचार-वल्लरी

(विचार-प्रधान निबन्धों का प्रेरक संकलन)

सम्पादक
जैनेन्द्रकुमार

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

मूल्य दो रुपये आठ आने

तृतीय संस्करण, १९५६

प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई।
मुद्रक—श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

• प्राक्कथन •

यह संग्रह उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया है जिन्हें निकट भविष्य में एक सुयोग्य नागरिक बनकर पमाज में अपनी जगह लेनी है।

शास्त्रों में विद्या उसे कहा गया है जो विनय देती है। ऐसी विद्या केवल जानकारी देकर समाप्त नहीं हो जाती। वह सिर्फ बौद्धिक नहीं होती; मूल में उसे नैतिक होना ही चाहिए। नाना विषयों का बोध ऐसे भी दिया जा सकता है कि परिणाम व्यक्तित्व की नम्रता न होकर कठिनता हो और सरलता की जगह जीवन में जटिलता का समावेश हो जाय। व्यक्तित्व में सामञ्जस्य से अधिक यदि स्पर्द्धा की वृत्ति पनपेगी तो इसे नागरिकता और सामाजिकता के विकास के हित में इष्ट नहीं कहा जा सकता।

शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में शिक्षा-शास्त्रियों में इधर काफी सोच-विचार चल रहा है। वर्तमान शिक्षा के फल से किसी को पूरा सन्तोष नहीं है। उसमें से उन्नति तो निकलती है, पर अशान्ति भी उतनी ही उपज आती है। वह विनय की आवश्यकता उससे पूरी होती नही दीखती, जिसे शिक्षा की परम सार्थकता माना गया है। समाज में सन्तुलन और सर्वोदयी पारस्पर्य विनय की वृत्ति के अभाव में भला और किस उपाय से बढ़ सकता है?

प्रस्तुत चयन में यह दृष्टि रही है। मेरी धारणा है कि श्रेष्ठ

निबन्ध एकांगी नहीं होता। गर्व एकांगिता में से आता है। खण्डन या मण्डन की ध्वनि उत्तम निबन्ध का लक्षण नहीं है। प्रतिपादन के आग्रह अथवा प्रतिवाद की स्पर्द्धा से शैली का प्रसाद नष्ट हो जाता है। प्रसाद उत्तम निबन्ध का प्रथम गुण है।

सिर्फ परिचय या बोध में से उत्तम निबन्ध की सृष्टि कठिन होती है। उसमें अनुभूति का पुट आवश्यक है जो साधना से ही आती है। प्रतीत होना चाहिए कि जो कहा जा रहा है वह श्रम-साध्य नहीं है, मस्तिष्क का व्यायाम नही है, प्रत्युत जीवनानुभूति का सहज स्फुरण है। इस संग्रह में जो रचनाएँ हैं अधिकांशतः वे मुझे ऐसी ही प्रतीत हुई हैं।

हिन्दी समूचे भारत की भाषा है। तदनुसार इस पुस्तक के चुनाव में कहना चाहिए कि प्रान्त नहीं पूरा राष्ट्र ही है। अतः कतिपय निबन्ध ऐसे भी हैं जो हिन्दी में अनूदित हैं, फिर भी हिन्दी के लिए उन्हें सर्वथा अमौलिक नहीं कहना होगा; कारण, हिन्दी को खासकर अब, अपने में सभी प्रान्तों और प्रान्त-भाषाओं का सार संचित करके बढ़ना है। हिन्दी की शैली उत्तरोत्तर भाषा की जकड़ से भाव की मुक्ति की ओर बढ़ रही है। इस कारण भाषा भी अधिक सफल, व्यापक, प्रवाही और सूक्ष्मग्राही होती जा रही है। साहित्य में भाषा तो आनुषंगिक है, भाव प्रधान है। भावोत्कर्ष में से भाषा को आप ही उत्कृष्टता और प्रभविष्णुता प्राप्त होती जाती है।

साहित्य को संकीर्ण वृत्त में देखना आज सम्भव नहीं है। जीवन की सम्पूर्ण व्यापकता का उसमें प्रतिबिम्ब है। वह कोई अलग विद्या या कला नहीं है। उसे एक हुनर नहीं समझा जा सकता। उसमें उन सबके लिए स्थान है जो आत्म-साधना में से सूक्ष्मानुभूतियों का योग प्राप्त करते और उन्हें प्रकाश देते हैं। साधना की कोई निश्चित पद्धति अथवा प्रकार नहीं है। किसी भी क्षेत्र से साधक अपनी अनुभूतियों का संचय करके शब्दों के किसी भी रूप द्वारा उन्हे प्रकाशित कर सकता है। वह रूप उद्‌बोधन-प्रवचन हो सकता है और आलाप-संलाप अथवा

निबन्ध-लेखन भी हो सकता है। गांधी, विवेकानन्द, बंकिम, विनोबा तथा कालेलकर आदि हिन्दी से इतर भाषा-भाषी सत्पुरुषों का समावेश इस दृष्टि से पुस्तक की साहित्यिक सार्थकता को बढ़ाने वाला ही मानना चाहिए।

आशा है यह चयन उपादेय और विद्यार्थियों के जीवन को समर्थ बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

७, दरियागंज
दिल्ली।

—जैनेन्द्रकुमार

आभार

जिन विचारकों तथा प्रकाशकों की अनुमति से हम इस पुस्तक को ऐसा प्रतिनिधि संकलन बनाने में सफल हुए हैं, हम उनके हार्दिक आभारी हैं। यदि हमें इस प्रयास में उनका सक्रिय सहयोग न मिलता तो ऐसा संग्रह कदापि प्रस्तुत न किया जा सकता। हम यहाँ पाठकों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए लेखों का मूल स्रोत दे रहे हैं जिससे और अधिक अध्ययन करने में उन्हें सुविधा हो। साथ ही इस सूची में आभार-प्रदर्शन के लिए लेखकों तथा प्रकाशकों का उल्लेख है—

१. *नीति धर्म* : सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'धर्म नीति' से; नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद के सौजन्य स्वरूप।

२. *सर्व धर्म समन्वय* : 'नवयुग' साप्ताहिक दिल्ली से।

३. *सामाजिक भूमिका* : सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'लोक-जीवन' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

४. *जीवन और शिक्षण* : सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित 'विनोबा के विचार' से; ग्राम-सेवा-मण्डल नालवाड़ी वर्धा के सौजन्य स्वरूप।

५. *समष्टि और व्यक्ति* : 'हिमालय' पटना से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

६. *जीवन में साहित्य का स्थान* : हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'कुछ विचार' से; श्री अमृतराय के सौजन्य स्वरूप।

७. *धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् :* ज्ञान मण्डल काशी द्वारा प्रकाशित 'कल्प-लता' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

८. *जिज्ञासा :* 'हिन्दी विश्व भारती' लखनऊ से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

९. *व्यक्तित्व :* 'युगारम्भ' जबलपुर के 'माखनलाल-अभिनन्दन अंक' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

१०. *मनुष्यत्व क्या है :* हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित 'बंकिम निबन्धावली' से; प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

११. *कर्तव्य क्या है :* रामकृष्ण आश्रम नागपुर द्वारा प्रकाशित 'कर्म-योग' से।

१२. *मन की दृढ़ता :* नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'भट्ट निबन्ध माला' से; प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१३. *विश्वास का चमत्कार :* पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'जवानी' से; प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१४. *धोखा :* नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी निबन्ध माला (भाग २)' से; प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१५. *लोभ :* नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सौजन्य स्वरूप।

१६. *करुणा :* इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'चिन्तामणि' से।

१७. *धीर :* नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी निबन्ध माला (भाग १)' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

१८. *हीन भावना :* आत्माराम एण्ड संस दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'दृष्टिकोण' से; प्रकाशक के सौजन्य स्वरूप।

१९. *कल्पना* : साहित्य रत्न भण्डार आगरा द्वारा प्रकाशित 'कला, कल्पना और साहित्य' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

२०. *चेतना-प्रवाह* : पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'विचार-विमर्श' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

२१. *इच्छा-शक्ति* : ज्ञानमण्डल काशी द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान की प्रगति' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

२२. *सुख की खोज* : हिन्दी पुस्तक एजेंसी बनारस द्वारा प्रकाशित 'व्यक्ति और राज्य' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

२३. *पैसा : कमाई और भिखाई* : हिन्दी प्रकाशन मन्दिर प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'जड़ की बात' से; लेखक के सौजन्य स्वरूप।

—प्रकाशक

विषय-सूची

• १ •

नीति-धर्म

(श्री मोहनदास करमचन्द गांधी)

जिस वस्तु से हमारे मन के अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह का आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं—एक से वह देख सकता है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन—तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायँ तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों वहाँ कैसी खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार वास्तु-विशारद के नक्शे जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नक्शा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नक्शों की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं, और चलना चाहते

भी नहीं। कितने ही तो यह मानते हैं कि नीति के विचार को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान् मनुष्य ने कहा है कि हमें सम्पूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुनकर हमें चौंक न उठना चाहिए, बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझ कर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुँचने के पहले लड़ाई नहीं लड़नी थी।" इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी को जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, सम्पूर्ण है, उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग, जो उसके बन्दे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति-भंग करते हैं, वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बताते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रहा नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊँचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करने वाला अवसर देने वाले का अहसानमन्द होता है, वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर ऊपर से मनुष्यता आ जाय। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायँ, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अन्दर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज़ सरहद पर पहुँच पाए। इस मार्ग के अन्दर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्यों को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है— यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमारा कोई लाभ होगा।

नीति-विषयक प्रचलित विचार वज़नदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की बहुत परवाह नहीं करनी है, कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक ही नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति की खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगों को नीतिमान् समझना चाहिए। जेरेमी बेंथम को, जिसने इंगलैण्ड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूढ़ निकाले, जिसने अँग्रेज़ जनता में शिक्षा के प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्ते से हम वाकिफ़ हों या न हों—उस पर हमें चलना ही चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उस पर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे

बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती है।

अपनी इच्छाओं की जाँच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज़ हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज़ अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आँकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की; ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरी प्रकार की इच्छाएँ ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उस पर हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आँकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं को पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घर-बार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है, पर घर-बार हो और उसका दुरुपयोग करें, जो धन्धा रोज़गार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गए। जो करना हमें उचित है, उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जन-समाज और कुटुम्ब में अनीति के बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुम्ब गिरकर टूट जाता है। फिर धन्धे-रोज़गार की मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ी-भर शान्ति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों में नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला

करने का प्रयास ही ऊँची नीति है। इस कुञ्जी से नीति-रूपी सन्दूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमे मिल जायँगे।

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुक्त है? यह सवाल करने में नीति वाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों मे खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करे तो अन्धाधुन्धी चलने लगे और दुनिया का कारोबार बन्द हो जाय, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने को नीति का नाम देनाी मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है, यानी जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जब तक हम मशीन के पुर्ज़े की तरह काम करते हों तब तक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरज़े की तरह काम करना हमारा फर्ज़ हो और हम करें तो यह विचार नीतियुक्त है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यान्त्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों मे जो भेद है वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ़ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है। माफ़ी की चिट्ठी ले जाने वाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य में यान्त्रिक भाग है। हाँ, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज़ है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग़ से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे ही प्रवाह में बहता जाता है, वह नीति को कैसे समझेगा? कितनी बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर प्रमाद करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने

एक बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, "जब तक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तब तक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।" यह स्थिति हमें तब तक प्राप्त नहीं होने की जब तक कि हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अन्तर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वतः अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है। वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना अथवा न होना करने वाले के इरादे पर अवलम्बित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर दरिद्रों को खाना देता है, दूसरा मान प्राप्त करने या इसी तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अन्तर है, वह यहाँ याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया हुआ है। उसके फल पर हमारा वश नहीं, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकन्दर को इतिहासकारों ने महान् माना है। वह जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ यूनानी शिक्षा, शिल्प, प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पाना था, अतः कौन कह सकेगा कि उसके काम में नीति थी? वह महान् भले ही कहलाए पर नीतिवान् नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हो, इतना ही काफी नहीं है, बल्कि वह बिना दबाव के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से

पहुँचूँ तो नौकरी से हाथ धोऊँगा, इस डर से मैं तड़के उठूँ तो इसमें रत्ती-भर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिन्दगी बिताऊँ तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूँ कि मैं अपने आसपास दरिद्रता और दुःख देख रहा हूँ, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम किस तरह भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी से रहना चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायँगे, इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनख्वाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मैं उनका भला चाहूँ, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूँ तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो ज़ोर-ज़बर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंगलैण्ड के राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आँखें लाल किये हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार माँगने पहुँचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उनके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने ज़ोर-ज़ुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए नीति उसमें छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या ज़ोर-ज़बर्दस्ती न होनी चाहिए, वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पॉलिसी (व्यवहार-नीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं।

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त

नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान् की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले; वह भक्ति इसलिए करता था कि यह मनुष्य का कर्त्तव्य है। महान् भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मसाल और बाएँ हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मसाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोज़ख की आग को बुझा दे, जिससे मनुष्य दोज़ख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। उस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफ़न बाँधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना और दुश्मन से दगाबाज़ी करना यह नामर्दों का काम है। डर-डरकर भले काम करने वाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेह-भरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था, पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया; एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देखते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते।

• २ •

सर्व-धर्म-समन्वय

(डॉक्टर भगवानदास)

कुछ विद्वानों के मतानुसार बाद में पैदा हुए धर्मों ने पहले धर्मो का अनुकरण किया है; पर यह प्रश्न केवल कुछ विद्वानों के लिए ऐतिहासिक महत्त्व का हो सकता है, सर्वसाधारण का इससे क्या सम्बन्ध ? पर यदि पश्चाद्वर्ती धर्मों ने पहले धर्मो का अनुकरण और अनुसरण-मात्र किया भी है तो इससे यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया है ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'अमर सत्य' केवल एक है और वह सभी पर छा जाता है; सत्य का अनुकरण और अनुसरण तो सबको करना ही चाहिए ? आखिर नई पीढ़ियाँ पुरानी पीढ़ियों से ही तो जन्मी हैं—पुरानी बस्तियों से नये राष्ट्रों का जन्म हो रहा है; पुराने दीपों से नये दीपक जलाये जा रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन, प्रकाश और शक्ति के रूप भले ही बदल जायें, पर वे हैं अनन्त। इन तीनों चीजों को कोई नहीं बनाता, ये ही सबको बनाती हैं। यदि अनु-करण की हुई वस्तु में सत्य है तो ऐसा अनुकरण और अनुसरण तो वाञ्छनीय है। यदि कोई नई या मौलिक वस्तु ऐसी तैयार की जाय जो असत्य पर आधारभूत हो तो यह तो एक लज्जाजनक और अपमानपूर्ण बात होगी। इस परिवर्तनशील जगत् में सत्य के अतिरिक्त और कोई मौलिक बात हो ही नहीं सकती। किन्तु अनुकरण का अर्थ संकुचित नहीं होना चाहिए। जीवन की सरिता तो बह रही है, जो प्यासा होगा

और जिसे जल की आवश्यकता होगी वह अपना घट उसमें से भर ही लेगा।

तुलनात्मक धर्मों के कुछ विद्यार्थी कह सकते हैं कि जब सब धर्मों में अधिकांश रूप में भाव-सादृश्य है तो प्रत्येक धर्म ने अपने पूर्ववर्ती धर्मों की नकल की होगी। पर जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, नकल या अनुकरण करना उस अवस्था में बुरा नहीं है जबकि उसका आधार सत्य है। सचाई की नकल करने वाले को कभी लज्जित नहीं होना पड़ेगा; हाँ, मिथ्या का अनुकरण करने वाले को अन्ततः अवश्य लज्जित होना पड़ेगा।

मनोविज्ञान के कुछ पण्डितों का कथन है कि धर्म या मत चलाने वाले व्यक्ति अथवा तत्त्वज्ञानियों का उद्भव 'वातावरण-जन्य' ऐतिहासिक या भौतिक परिस्थितियों के कारण हो जाता है, पर यदि यह व्याख्या मान ली जाय तो यह प्रश्न और उठते हैं कि विलक्षणताओं की दृष्टि से यह बात मान्य होते हुए भी मौलिक सामान्यता को हल नहीं कर पाती और मनुष्य इन परिस्थितियों का शिकार क्यों और कैसे बन जाता है ? इस प्रकार प्रश्नोत्तर और कथनोपकथन का अन्त नहीं होता, पर यह निर्विवाद सत्य कायम ही रहता है कि विविध धर्मों का प्रचलन हुआ है जो मानव-जीवन मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

इन धर्मों के समन्वय की आवश्यकता है। प्रत्येक के विधान से दूसरे की सृष्टि होती है और दूसरे से तीसरा कानून बनता है। और इस प्रकार गाड़ी चलती जाती है और इसका अन्त तभी होता है जब हम लौटकर फिर अनन्त 'स्व' में आ जाते हैं। इसी प्रकार संसार के व्यक्तियों में धर्म का विस्तार होता है, पर उसका अन्त तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मनुष्य उन धर्मों के मूल तत्त्व एकमात्र सत्य को न समझ ले। पूर्ण चेतना और प्रकृति के विधान को समझ लेने पर यह काम सरल हो जाता है। इस सर्वव्यापक, सर्वसमन्वित मन और अनन्त कल्पना में तभी धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, विधान और कला आदि आकर

मिल जाते हैं और फिर उसी से वे उद्भूत भी होते हैं। यह अनन्त पुनरावृत्ति चालू रहती है। जब हम उसकी तह में पहुँच जाते हैं और उसको समझ लेते हैं तो सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं और अन्तिम समन्वय होने पर मन को शान्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार का समन्वय प्राप्त हुए बिना भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होकर भी मनुष्य अकिंचन ही बना रहेगा, क्योंकि जब तक मन को शान्ति न प्राप्त हो धन-सम्पत्ति एकत्रित करके भी वह क्या करेगा। भूतकाल में जितने भी धार्मिक युद्ध या साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं और अब भी संसार में जो निरन्तर संघर्ष चल रहा है—हिन्दू-मुसलमानों में, हिन्दू-हिन्दुओं में, शिया-सुन्नियों में, अरब-यहूदियों में—यही क्यों, भाई-भाइयों तक में यह संघर्ष और विरोध-भाव चलते रहने का कारण मानसिक अशान्ति और विचार-समन्वय की हीनता है। ऐसी दशा में यदि संसार के सारे संघर्ष और कलह को दूर करना है तो सबसे पहले उसके कारण को दूर करना होगा। समझदार और विद्वान् लोग जब तक सर्व-धर्म-समन्वय की बात समझकर उसको अपने जीवन में पालन न करेंगे तब तक यह अवाञ्छनीय ढंग का संघर्ष चलता ही रहेगा। यदि संसार की यही अवस्था, यही गति-विधि रही, समाज का यही ढाँचा रहा, राष्ट्रों की यही तैयारियाँ रहीं तो उसका दुःखद परिणाम भोगना पड़ेगा। ईर्ष्या, घृणा और कपट राष्ट्रों को खा जायँगे और फिर युद्ध अनिवार्य हो जायगा, जिससे मानव-जाति का घोर रूप में विनाश हो जायगा।

समन्वय के लिए यह अनिवार्य है कि या तो मनुष्य मनुष्य को समझे और हृदय से दुर्भावना दूर करके दूरदर्शिता से काम ले अथवा आपस में लड़कर, थककर फिर सुलह-समझौते के मार्ग की ओर लौटे और बौद्धिक, भौतिक, वैयक्तिक और सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करने के लिए फिर मानवता की ओर लौटे।

यदि रूस की पद्धति सफल हुई तो उसका भी अनुकरण और अनु-

सरण होगा ही, पर यदि वह असफल हो गई, जिसकी कि अधिक सम्भावना है क्योंकि उसके पास आध्यात्मिक विषमारक प्रयोगों का अभाव है, तो वैसी दशा मे केवल ये उपाय रह जाते है—

(१) एक विश्व-धर्म की स्थापना, जो सभी धर्मों के मस्तिष्क का भी काम करे और हृदय का भी, क्योंकि इस प्रकार मानव-जाति मे एकता की स्थापना हो सकेगी। यह धर्म सभी धर्मों के अनुयायियों का आध्यात्मिक परिपोषण करेगा और मानवता को विभाजित करने वाले कारणों को दूर करके उनमें एक अखण्डता और भ्रातृ-भाव बढ़ाकर वैसे विश्वास और श्रद्धा की सृष्टि करेगा जो हमारे घरेलू जीवन मे अब भी देखी जाती है।

(२) एक ऐसी युक्तिसंगत व्यक्तिगत सामाजिक संगठन की योजना, जो विज्ञान और खासकर मानव-स्वभाव अर्थात् मनोविज्ञान के अनुकूल हो।

संसार के पवित्र ग्रन्थों, विशेषकर वैदिक धर्म-ग्रन्थों में ऐसी धर्म की आधारभूत बातों का समावेश है। धर्म का नाम तभी सफल होगा जब वह सर्वत्र मनुष्य-मात्र की सेवा और सहायता कर सके—इस लोक मे उसे सुख दे सके और इसके पश्चात् भी।

आज सभी राष्ट्रों के शासक—चाहे वे राष्ट्र के चुने हुए प्रतिनिधि हों या खुद-मुख्तार तानाशाह, सम्राट् हों या महामंत्री, प्रभावशाली पूँजी-वादी हों या सैनिक गुटबाज़—शक्तिशाली समझे जाते है और अधिका-धिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते दिखाई देते है और दुर्बल जातियों के नेता अपने देश की स्वतन्त्रता फिर प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे है ; पर शायद कहीं भी इस बात पर विचार नहीं किया जा रहा है कि उस वर्द्धित शक्ति का उपयोग व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व की शान्ति को संगठित करने मे किस प्रकार किया जाय। उनकी शक्ति तो युद्ध के लिए संगठन और तैयारी करने मे लग रही है। बात यह नहीं है कि संसार के ये शासक और नेता संसार की सुख-शान्ति का

सच्चा मार्ग जानते ही नहीं। वे जानते बहुत-कुछ हैं, पर अपनी संकीर्ण दृष्टि और तत्कालीन लाभ के आगे वे दूरदर्शिता और स्थायी सुख की ओर ध्यान नहीं देना चाहते। वे स्वयं अन्धे हैं, फिर भला अन्धों को रास्ता कैसे दिखा सकते हैं। जब तक वे अपने अहंकार को दूर करके अपने संकीर्ण 'राष्ट्रवाद' का चश्मा हटाकर मानवता की दिव्य दृष्टि न पा लेंगे तब तक संसार का वर्तमान क्लेश दूर न होगा। मानवता का प्रसार सर्व-धर्म-समन्वय के सिद्धान्तों पर ही हो सकता है और उसी के द्वारा स्थायी शान्ति और समृद्धि मनुष्य-मात्र को प्राप्त हो सकती है।

• ३ •

सामाजिक भूमिका

(आचार्य काका कालेलकर)

: १ :

स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है कि हिन्दुस्तान का सवाल वास्तव में राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक है। आज जब कि हम एक स्वतन्त्र गणराज्य के निवासी हैं तब रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि हमारा राष्ट्रीय प्रश्न जितना राजनीतिक है उससे अधिक सामाजिक है। हमारी राजनीतिक परेशानियाँ भी हमारी सामाजिक कमज़ोरी में से पैदा हुई हैं। अगर आज हमारा राष्ट्र सामाजिक दृष्टि से एक और अखण्ड समुदायात्मक होता, अगर हमारे हृदय एक होते, हमारे मन एक ही दिशा में काम करते होते, हमारी राष्ट्रीय यात्रा एक ही आदर्श की ओर जाती होती, तो हमारी राजनीतिक आकांक्षाओं की सिद्धि में आजकल इंगलैंड किसी तरह की रुकावट न डाल सकता।

हिन्दुस्तान की सर्वतोमुखी प्रगति के बारे में आस्था रखने वाले महाराष्ट्रीय नेताओं ने एक ज़माने में इस बात की बड़ी गर्म बहस चलाई थी कि पहले राजनीतिक सुधार किये जायँ या सामाजिक? सिर्फ चर्चा चलाकर ही वे न रुके, उनमें दो दल बन गए। दोनों दलों ने अपने अपने ढंग से अच्छा ही काम किया, लेकिन अगर दोनों में सह-योग हो जाता तो जनता गुमराह न होती और आपसी विरोध के

कारण राष्ट्रीय शक्ति की जितनी बरबादी हुई, उतनी न होती ।

गांधी-युग में हमने यह जान लिया है कि राजनीतिक सवाल मूलतः सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक ही होता है, इसलिए 'पहले राजनीति या समाज-नीति ?' का सवाल ही न उठाकर सारी जीवन-नीति को ही हाथ में लेना चाहिए । राजनीतिक सवाल हल किये बिना सामाजिक सुधारों को बल नहीं प्राप्त होता; और सामाजिक सुधार करके राष्ट्रीय एकता सिद्ध किये बिना राजनीतिक एकता के लिए जरूरी जन-शक्ति ही पैदा नहीं हो सकती । जनता की सेवा सामाजिक क्षेत्र में की गई हो तो वह राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में तुरन्त मदद देने लगती है । "जनता में सेवा बोइए और स्वराज्य की फसल काटिए ।" इस तरह का उनका परस्पर-सम्बन्ध है । सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रश्नों को एक करके गांधीजी ने उनके हल को 'रचनात्मक कार्यक्रम' का नाम दिया । यह रचना किस बात की है ? वह है स्वराज्य की, समर्थ राष्ट्रीयता की, सर्वतोमुखी सामर्थ्य की रचना ।

धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी आदि जीवन के, विराट् जीवन के, अनेक पहलू है; फिर भी जीवन एक तथा अविभाज्य अखण्ड है । इसलिए उन्नयन दण्ड (लिवर) कितना भी और कहीं से भी क्यों न लाया जाय, आखिर उत्थान तो समग्र जीवन का ही करना है ।

जीवन का यथार्थ आकलन होने के लिए उसके अलग-अलग पहलुओं पर हम जुदे-जुदे सोचते है । यह उचित भी है, लेकिन जीवन के जितने ही टुकड़े किये जायँ तो हाथ में जीवन न आकर मृत्यु ही आएगी । विचार के हिस्से किये जा सकते है, कार्य-राशि के भी विभाग किये जा सकते है, लेकिन अगर हम जीवन के ही टुकड़े करने लगें तो वह आत्मघात ही होगा । अगर हम स्वराज्य चाहते हों, राष्ट्र के शरीर में स्वतन्त्रता के प्राण को संचारित हुआ देखना चाहते हों तो समाज को

सब तरह नीरोगी, सुदृढ़ तथा संस्कार-सम्पन्न बनाने के लिए और राष्ट्र को उसके ध्येय का भान कराने के लिए हमें राष्ट्र-रचना का काम अखंड रूप से चलाना चाहिए। उसी का एक पहलू सामाजिक प्रश्न है। उस पहलू को अत्यधिक महत्त्व देना जैसे गलत होगा वैसे ही उसकी तरफ बिलकुल ध्यान न देना भी आत्मघात की तरह होगा।

पिछली पीढ़ी के महाराष्ट्रीय लोगों ने समाज-सुधार के बारे में जो विचार किया वह खासकर मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था और सो भी महाराष्ट्र के मध्यवित्त लोगों को मद्दे नजर रखकर किया गया था। अब हमें व्यापक समाज का विचार करना चाहिए। आजकल 'हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं' कहने का फैशन-सा चल पड़ा है। राजनीतिक दृष्टि से इससे बड़ा झूठ आज तक कोई न बोला गया होगा। जाति-भेद, धर्म-भेद, भाषा-भेद और वंश-भेद आदि कितने ही भेद होते हुए भी संस्कृति तथा राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब एक ही हैं। अगर कोई कहे कि दुनिया के सारे मुसलमानों की संस्कृति एक है, तो वह गलत होगा। मार्मड्यूक पिक्थाल नाम का अँग्रेज मुसलमान है; उसने कुरान पर काव्य लिखा है। लेकिन यह कभी नहीं कहा जा सकता कि उसकी और निज़ाम (हैदराबाद) की संस्कृति एक है। उसी तरह चीन के मुसलमानों और भारत के मुसलमानों का धर्म एक होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संस्कृति एक है। लंका के बौद्ध और तिब्बत के बौद्ध दोनों बौद्ध धर्म तथा संघ की शरण जाते हैं तो भी संस्कृति की दृष्टि से वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, इस बात को हर कोई स्वीकार करेगा।

हिन्दुस्तान के ईसाई और अमरीका के ईसाई दोनों का धर्म एक होते हुए भी दोनों की जीवन-दृष्टि, रहन-सहन तथा विचार-प्रणाली एक ही तरह की नहीं है। इसमें शक नहीं कि धर्म की एकता बड़ी ज़बर्दस्त होती है। यह भी सही है कि एक समय में वह जीवन-व्यापी थी। लेकिन अब उसकी वह स्थिति नहीं रही है, और इसके बाद तो

सारे धर्म भाड़ मे जाकर गिरने वाले हैं, बल्कि गिर गए है । यह कहना कठिन है कि आगे इनका क्या होगा, लेकिन इतना सही है कि संस्कृति की एकता जितनी दृढ़ होगी उतनी धर्म की न होगी ।

मानव-जाति ने शुरू के जमाने में कुटुम्बों तथा गोत्रों से प्रारम्भ किया, बाद में अपने छोटे-छोटे दल बनाये, जातियाँ और जमाते पैदा कीं; लेकिन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारी दुनिया एक ही कुटुम्ब की तरह है) के आदेश को सिद्ध करने की हिम्मत कभी न की । हिन्दू, पारसी और यहूदी तीनों प्राचीन धर्म वंशनिष्ठ हैं । इनमें बाहर के लोगों को आत्मसात् करने का खुला मार्ग नहीं है । ये तीन धर्म अगर कहें कि धर्म और राष्ट्र एक ही है, तो वह सही न होने पर भी एक बार क्षम्य होगा; लेकिन बौद्ध, जैन, इस्लामी, ईसाई, आर्यसमाजी या ब्राह्म धर्म नये-नये अनुयायी प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले धर्म हैं । उनकी अपनी कोई एक ही संस्कृति नहीं है; वह तो सभी संस्कृतियों मे हिल-मिल सकते हैं । शक्कर, इमली आदि रस अलग वस्तुओं मे पड़ने पर उन्हें अपनी रुचि प्रदान करते हैं । यही हालत इन धर्मों की है । ईसाई धर्म के मानी हैं ईसा मसीह का उपदेश । ईसाइयों की तरह कुछ यहूदियों ने भी उसे अपने धर्म में ले लिया; औरों ने उस पर यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों की तहें चढ़ाई । हिन्दुस्तान के ईसाई जब ईसा मसीह के उपदेश और उसके जीवन-नेतृत्व को स्वीकार करते है तब उन्हें यहूदियों के तौरात (Old Testament) या यूनानी दर्शन को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है । यहाँ का धर्म ही उनका असली तौरात है । उसी में वे येशू का वह उपदेश मिला ले जो उनके गले उतरा हो । वैसा करने से वे हिन्दुस्तानी संस्कृति मे भी रह सकते है और ईसाई बनने का सन्तोष भी प्राप्त कर सकते हैं । ऐसा तो नहीं है कि जिन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग किया हो उन्हें संस्कृति का भी त्याग करना ही चाहिए । हिन्दू सस्कृति में हिन्दू धर्म के बन्धन नहीं है, लेकिन हिन्दू जीवन-दृष्टि तो वायु-मण्डल की तरह अपना काम करती रहती है ।

यहां की संस्कृति को पहले हम आर्य संस्कृति कहते थे। वह बड़ी हद तक झगड़ालू और विजिगीषु थी। लेकिन अन्त में उसे अनुभव हुआ कि विजय के पीछे पड़ने से परस्पर नाश को ही स्वीकार करना पड़ता है। 'जयं वैरं प्रसवति दुःखं शेते पराजितो' अर्थात् विजय से वैर बढ़ता है, पराजित यानी हारा हुआ व्यक्ति सुख की नींद सो सकता है। वह बदला लेने की तैयारी करता है और युद्ध के पेट से महायुद्ध तथा अति-युद्ध जैसी सन्तानें जन्म लेती हैं और इस वंश-परम्परा की अन्तिम सन्तान है विनाश तथा सर्वनाश।

वैर या दुश्मनी की कल्पना को जन्म देने पर वह कल्पान्त करके ही विश्राम करती है। इसीलिए युद्ध के अन्त में धर्मराज को कहना पड़ा—'जयोऽपि अजयकरो भगवन् प्रतिभाति मे'; अर्थात् हे भगवन्! मुझे ऐसा लगता है कि हमारी यह विजय बहुत भारी पराजय या हार ही है। रोमन लोगों से लड़ने वाले सेनापति पिर्ह्स को भी ऐसा ही कहना पड़ा था कि 'इस तरह की और एक विजय प्राप्त करूँ तो मेरा सर्वनाश ही होगा।' (एक लड़ाई में उसकी आधी सेना खेत आई थी।)

भारतीयों ने देखा कि युद्ध-परायण क्षात्रधर्म पापी है, क्योंकि वह आत्मघाती है; और इसलिए उन्होंने यह तय किया कि साम, दाम, भेद आदि सभी उपाय कर चुकने के बाद ही दंड का आखिरी उपाय आज़माकर देखा जाय।

इस तरह भारतीय युद्ध के बाद बुद्ध और महावीर के ज़माने में आर्य-संस्कृति ने हिन्दू-संस्कृति का रूप धारण किया। हिन्दू-संस्कृति विजिगीषु नहीं, बल्कि जिजीविषु है। हम जियें, सब जियें, सब सुखी हों, सभी निरामय हों, सबको भद्र बातें मिलें, किसी को भी दुःख न हो—ऐसा संकल्प करके आर्य-संस्कृति ने हिंसा-विमुख हिन्दू-संस्कृति का रूप धारण किया ('हिंसया दूयते चित्तं यस्यासौ हिन्दुरीरितः' अर्थात् हिंसा को देखकर जिसका चित्त दुखता है वह हिन्दू है।)

अपने देश और समाज में आकर स्थान पाये हुए पारसी, यहूदी,

इस्लामी, ईसाई, लेनिनी आदि सभी धर्मों का स्वागत इस संस्कृति ने किया है। हिन्दुस्तान में अब एक ही धर्म नहीं रहता है; यहाँ तो सब धर्मों का एक विश्व-कुटुम्ब बन गया है। अब हिंदू-संस्कृति का संशोधित तथा परिवर्द्धित एक नया संस्करण तैयार हुआ है। उसे हम 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' कहें। यही संस्कृति अब हिन्दुस्तान-भर में प्रधान रूप से रहने वाली है। आज तक एक-दूसरे की तरफ आँखे तरेरकर देखने वाले धर्म इसके कृपा-छत्र के नीचे कुटुम्ब की भावना से पास-पास आने वाले हैं और मेल-मिलाप से रहकर सारी दुनिया को 'महत् समन्वय' का रास्ता दिखाने वाले हैं।

: २ :

अब सवाल यह है कि अगर हिन्दू-संस्कृति ही विरोध-शामक अहिंसा-परायण थी, तो फिर उसका नाम बदलकर उसे हिन्दुस्तानी संस्कृति कहने का क्या कारण है?

हिन्दू-संस्कृति ने विरोध टाला तो सही, लेकिन वह विरोध का समूल नाश न कर सकी और उसकी इससे भी बड़ी त्रुटि यह है कि उसने भोलेपन से अपने अन्दर उच्च-नीचता की भावना को जारी रखा है। चार भाई जब एक साथ रहते हैं और बड़े भाई की सलाह से सब काम ठीक तरह से चलता है तब बड़े भाई को ऐसा लगता है कि वही उस घर का मालिक है, उसकी आज्ञा सब भाइयों को माननी चाहिए, जहाँ वह कहे वहाँ वे बैठें, जितना वह दे उतना ही वे खाएँ और जैसा वह तय करे वैसी ही शिक्षा उनके लड़कों को दी जाय।

जब तक बड़ा भाई उदार, निःस्वार्थी और परिश्रमी होगा, परिवार के हित की खातिर अपने को भूलकर मेहनत करता होगा, तब तक उसकी व्यवस्था खास अच्छी न होने पर भी उसके छोटे भाई तथा परिवार के दूसरे लोग उसे चला लेंगे। बड़ा भाई उन्हें एक वचन से पुकारे तो भी वे उसमें गर्व का अनुभव करेंगे। लेकिन बड़े भाई को यह कभी

न भूलना चाहिए कि यह सब खुशी का सौदा है, मूल मे सब भाई समान हैं, सबका अधिकार समान है। सबके मत से ही घर का काम चलना चाहिए। कोई किसी की आशा में रहने के लिए बँधा हुआ नहीं है। यह भान सबमें होना चाहिए कि 'अगर हम परिवार को छोड़कर चले गए तो विशाल समाज में हमारा नाश ही होने वाला है; इसलिए हम सबको एक दिल से एकता के साथ रहना चाहिए।'

हिन्दू-संस्कृति ने यह एक असामाजिक बात की कि वह समाज में उच्च-नीचता का भाव लाई। भोलेपन से जब तक यह बात चलती रही तभी तक चली। भोजन के समय पंगत में ब्राह्मण उच्चासन पर बैठें यह बात अगर सबको मंजूर हो, तभी वह चल सकेगी, लेकिन दूसरी जातियाँ इस तरह की जुल्म-जबर्दस्ती के सामने क्यों झुकें? इसलिए पंगत में बैठना ही छोड़ दिया जाय या फिर जो जहाँ चाहे वहाँ उसे बैठने दिया जाय। उच्च-नीचता की भावना सबकी भोली-भाली सम्मति से टिक सकती है या फिर जबर्दस्ती से उसे लादा जा सकता है, जहाँ ज्ञान आया, अहिंसा आई और न्याय आया वहाँ समता की प्रस्थापना होनी चाहिए।

कहते हैं कि फलाँ समाज को अस्पृश्य ही रखा जायगा।

क्यों भई? उसने किसका क्या नुकसान किया है? और अगर वह अस्पृश्य के तौर पर रहने के लिए तैयार न हो तो? आपके पास संख्या और सत्ता है इसीलिए आप अपना मत उस पर जबर्दस्ती लादेंगे न? वह भी कहेगा कि "देख लेंगे; जुल्म-ज्यादती का प्रतिकार करने मे ही पौरुष है। प्रतिकार करते-करते मर जायँगे, मगर जुल्म को बर्दाश्त न करेंगे।" ऐसा कहकर अगर अछूत लोग खम ठोककर खड़े हो जायँ तो समाज-व्यवस्था की क्या प्रतिष्ठा रहेगी? घर में रहते समय छोटा कहकर जिसके कान हम पकड़ते हैं वह अगर घर से बाहर जाने लगे तो उसी के पैर पकड़कर अगर वे उसे घर में रख सकें तभी परिवार की शान रहेगी।

हिन्दू-संस्कृति ने उच्च-नीचता के भाव को बढ़ाकर उसे अस्पृश्यता तक पहुँचाया। अस्पृश्यता, उच्च-नीच-भाव और बहिष्कार इन सामाजिक शास्त्रों का प्रयोग आत्मघातीपन से करके हिन्दू-संस्कृति ने अपनी कल्याण-बुद्धि का दिवाला निकाला। अब उस हालत को सुधारकर हिन्दुस्तान की संस्कृति में पले-बढ़े सभी लोगों की एकता का सवाल जल्दी से हाथ मे लिया जाना चाहिए। सारा समाज एक जीव, एक प्राण, एक हृदय, एक मन और एक शरीर हो, इसके लिए अब जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। घर में आग लगने पर जिस लगन और तेजी के साथ हम दमकल चलाते हैं उसी वेग तथा निर्धार की प्रस्थापना हमें करनी है। नोआखाली और बिहार में जो दुष्ट सपने देखे गए उसके बाद अगर हम तुरन्त न जगते तो विनाश बहुत दूर नहीं था। सर्व-समन्वय ही इस क्षण और इस युग का उद्घोष है—समतामूलक सर्व-स्वीकारी समन्वय।

: ३ :

राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से हम एक हैं, कहने वाली जनता अगर सामाजिक बातों में समाज के टुकड़े करने लगे तो उससे काम न चलेगा। भिन्न-भिन्न जातियाँ और भिन्न-भिन्न प्रान्त अगर इतने अलग हो गए कि जीवन-व्यवहार में कभी किसी का किसी के साथ सम्बन्ध ही न आ सके, तो यह कैसे माना जाय कि उन सब जातियों से मिलकर एक समाज बनता है? जिन लोगों की यह हालत हो कि वे एक साथ बैठकर खाना खाते हैं उनसे अगर कहें कि "तुम एक समाज नहीं हो" तो हम उसे क्या जवाब देंगे? क्या हमारी एकता सिर्फ इतनी ही है कि "हमारे बीमारों और पागलों के अस्पताल एक हैं, हमें गुलामी में रखने वाले मालिक एक हैं, इन सबका अपमान एक है, एक ही मौत हम सबके नसीब में बदी है।" मृत्यु के बाद के हमारे श्मशान भी अलग-अलग हैं, मन्दिर अलग हैं, भोजन की पंगतें अलग, धोती और पगड़ी

पहनने के ढंग अलग और नमस्कार करने की पद्धतियाँ भी अलग हैं। इस तरह अलगपन के पीछे पागल हो जाने के बाद हमारी संस्कृति और राष्ट्रीयता ही एक है कहते समय उस कहने में ज़ोर कहाँ से आए? हमारे ऋषियों ने यह आविष्कार किया कि विविधता में एकता अनुस्यूत (पिरोई हुई) होना इस विश्व का रहस्य है और उन्होंने यह आदेश दिया कि विभक्त में से अविभक्त को ही खोज निकालो तथा उससे चिपटे रहो। लेकिन हमने तो जहाँ तक हो सका, एकता को गौण बनाया और भेदों को बढ़ाते गए। सारा राष्ट्र, सारी संस्कृति और सनातन काल से चला आया हमारा धर्म छिन्न-भिन्न होने आया है, फिर भी भेदों को बढ़ाने का अपना शौक हम नहीं छोड़ रहे हैं। यह तो मानो हमारा धर्म-व्रत ही हो गया है कि थोड़ा भी भेद का तत्त्व दिखाई दे, तो तुरन्त उस पर ज़ोर देकर एकता का गला घोंटा जाय। धर्म-भेद तथा जाति-भेद मानो काफी नहीं है, इसलिए अब हम प्रान्त-भेद और भाषा-भेद को आगे बढ़ा रहे हैं।

प्राथमिक या आदिम स्थिति के समाज का यह स्वभाव ही होता है कि जिसकी जानकारी न हो, जिसका परिचय न हो, उसके बारे में अविश्वास, तिरस्कार और अनास्था रखी जाय। यह तो एक राजनीतिक सिद्धान्त भी बन गया है कि 'हमारा पड़ौसी हमारा दुश्मन है; उसकी उस तरफ का उसका पड़ौसी हमारे इस पड़ौसी का दुश्मन होने के कारण हमारा दोस्त है।'

जब कांग्रेस ने राष्ट्रीय एकता साधकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कोशिश शुरू की तब भेद-निपुण अंग्रेज़ों के भड़काने से हो या अपने सनातन स्वभाव-दोष के कारण हो, हमने एकता और स्वतन्त्रता से डरकर अपनी जाति के संकुचित हितों की रक्षा करा लेने के लिए दौड़-धूप शुरू की। किसी को मत-स्वातन्त्र्य चाहिए तो किसी को पान-स्वातन्त्र्य। धर्म, रीति-रिवाज, सीमा, पहनावा, भाषा, साहित्य, लिपि—सब-कुछ पहले सुरक्षित होने दीजिये। उसी की फिक्र उन पर

सवार है। हमारे देश में ऐसे लोग कुछ कम नहीं है जो ऐसा पक्का इरादा कर बैठे है कि ऊपर बताई हुई सभी बातों की सुरक्षितता के बारे में विश्वास होने तक वे हमारे स्वराज्य के आन्दोलन का विरोध करते रहेंगे।

अंग्रेजी साहित्य की बारीकियों से परिचित हमारे शिक्षितों को बंगला या तेलुगु साहित्य की तनिक भी जानकारी नहीं होती और इस बात से न किसी को आश्चर्य होता है, न बुरा ही लगता है। लगभग सभी हिन्दुओं को ऐसा लगता होगा कि उनके प्रान्तों तथा जातियों मे प्रचलित रीति-रिवाज ही हिन्दू-धर्म का सच्चा लक्षरण है। तो फिर कई मार्मिक टीकाकारों ने हमारा जो यह वर्णन किया है कि 'बड़े देश के छोटे लोग! उदार धर्म के अनुदार प्रतिनिधि! विशाल संस्कृति के संकुचित अनुयायी!' उसे हम कैसे झूठा कह सकते है?

इसका उपाय एक ही है। हमें अलग-अलग प्रान्तों और जातियों मे काफी प्रवास करना चाहिए। लोगों में हिल-मिल जाना चाहिए। आहार मे सिर्फ शाकाहार और मांसाहार के भेद का पालन करके किसी के भी घर, किसी के भी साथ और किसी के भी हाथ का पका हुआ खाना खाने मे हर्ज न होना चाहिए। अगर मै शुद्ध शाकाहारी हूँ तो भी मेरे पास बैठकर अगर कोई गोश्त खाए तो वह मुझसे बर्दाश्त किया जाना चाहिए; इतना ही नहीं बल्कि उसके साथ बड़ी प्रसन्नता के साथ बातचीत करने की कला भी मुझमें होनी चाहिए। इतनी उदारता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हम अपने दिल से उच्च-नीचता की भावना को दूर नहीं कर सकते। कोई भी किसी जाति या धर्म के व्यक्ति से शादी करे तो मुझे ऐसा नहीं लगना चाहिए कि उससे बड़ा घात हुआ है। रहन-सहन के छोटे-बड़े भेदों को हज़म करने की शक्ति हममें आ ही जानी चाहिए। पति, पत्नी या घर के दूसरे लोगों में से किसी पर भी कोई ज़ुल्म-जबर्दस्ती न करे। हर एक की स्वतन्त्रता की रक्षा सबको आदर के साथ करनी चाहिए। बाह्य नियन्त्रण, जहाँ तक हो

सके, कम करने से ही समाज का नैतिक तेज बढ़ता है। आंतरिक प्रेरणा से ही जिन आदर्शों का पालन किया जाता है वे ही समाज को ऊँची सतह तक ले जाते हैं— इस बात को पहचानकर सदाचार के बन्धन का पालन करने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिए।

हिन्दुस्तान का असली सवाल व्यापक अर्थ में सामाजिक है। हिन्दुस्तान की राजनीतिक कमजोरी उसके सामाजिक दोषों के कारण ही पैदा हो गई है। इतनी भी एक बात अगर हमारे गले उतरे तो हम अपने धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सवाल बात-की-बात में हल कर सकेंगे। लेकिन सामाजिक प्रश्न के मानी महाराष्ट्र के मध्यवित्त श्रेणी के ही प्रश्न नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में रहने वाले सब प्रान्तों, सब धर्मों, सब जातियों, सब परिस्थितियों के छोटे-बड़े, नये-पुराने, गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, पिछड़े हुए और आगे बढ़े हुए सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों के जीवनों के सब प्रश्न हैं—इतना व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिए।

• ४ •

जीवन और शिक्षण

(आचार्य विनोबा भावे)

(आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते है। आयु के पहले पन्द्रह-बीस बरस मे आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बाद मे शिक्षण को बस्ते मे लपेट रखकर मरने तक जिये।)

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथ-भर लम्बाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे हो जाता है यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम-क्रम से, थोड़ी-थोड़ी होती है। अतः उसके होने का भान तक हमें नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोए जब दो फुट की ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिलकुल आखिरी दिन तक मनुष्य जीवन के विषय मे पूर्ण रूप से ग़ैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं; यही नहीं उसे ग़ैर-जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सम्पूर्ण ग़ैर-जिम्मेदारी से सम्पूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद हुई। ऐसी हनुमान कूद की कोशिश मे हाथ-पैर टूट जायँ तो क्या अचरज !

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र मे 'भगवद्गीता' कही। पहले भगवद्-

गीता की 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है। 'मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूँगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा।' एक, दो, चार जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का सौभाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है, पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है ? जब नौन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया तब बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है आज तक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है ? फिर पेट के लिए वन-वन फिरने वाले शिवाजी, करुण गीत गाने वाले वाल्मीकि, और कभी नौकरी की तो कभी औरत की, कभी लड़की के वर की और अन्त में श्मशान की शोध करने वाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। वह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से मैंने पूछा—"क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे ?"

"आगे क्या ? आगे कालेज में जाऊँगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर उसका अभी से विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से मैंने वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें ? कुछ सूझता ही नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा,' ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहले की आवाज़ में बेफ़िक्री थी। आज की आवाज़ में थोड़ी चिन्ता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से अथवा कहो अब गृहस्थ से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिन्ताक्रान्त था। आवाज़ की बेफिक्री बिलकुल ग़ायब थी। "ततः किं ? ततः किं ? ततः किं ?" यह शंकराचार्य का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उन पर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आँखों से देखते हैं। जो मरण का अगाऊ अनुभव कर लेते हैं उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिंचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खम्भा है यह बात अन्धे को छाती में उस खम्भे का प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँख वाले को यह खम्भा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी मौत है ? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनन्द की वस्तु होनी चाहिएं। कारण, अपने परम प्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वह हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन में जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की ज़िन्दगी चाहेगा ? तिस पर ईश्वर

के प्रेम ग्रौर करुणा का कोई पार है ? वह ग्रपने लाडले बच्चे के लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानी ग्रौर झंझटों से भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या ग्रावश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न ! हमारे लिए जो चीज़ जितनी ज़रूरी है उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इन्तज़ाम ईश्वर की ग्रोर से है । पानी से हवा ज्यादा ज़रूरी है तो ईश्वर ने पानी से हवा को ग्रधिक सुलभ किया है । जहाँ नाक है वहाँ हवा मौजूद है । पानी से ग्रन्न की ज़रूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत ग्रन्न प्राप्त करने में ग्रधिक परिश्रम करना पड़ता है । 'ग्रात्मा' सबसे ग्रधिक महत्त्व की वस्तु होने के कारण वह हर एक को हमेशा के लिए दे डाली गई है । ईश्वर की ऐसी प्रेमपूर्ण योजना है । इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड़ जवाहरात जमा करने मे जितने जड़ बन जायें तो तकलीफ हमे होगी ही । पर यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नहीं ।

जि़न्दगी की जि़म्मेदारी कोई डरावनी चीज़ नहीं है, वह ग्रानन्द से ग्रोत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान मे रखते हुए ग्रयुक्त वासनाग्रों को दबाकर रखा जाय । पर जैसे वह ग्रानन्द से भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है । यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जि़न्दगी की जि़म्मेदारी से वंचित हुग्रा वह सारे शिक्षण का फल गँवा बैठा । बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जि़न्दगी की जि़म्मेदारी का खयाल ग्रगर बच्चों में पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा । पर जि़न्दगी की जि़म्मेदारी का भान होने से ग्रगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है । पर ग्राज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है, ग्रौर इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना; जीवन मानी कलह, यह मान लेना । ईसप-नीति के ग्ररसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक मर्म को समझने वालों ने मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की ग्रपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया तो जीवन के

अन्दर का कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। बन्दर के हाथ में मोतियों की माला (मर्कट-भूषण-अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के सम्बन्ध मे डार्विन का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफ़ादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर वह अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कों को उसमें ज़रूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र मे कही गई वैसी शिक्षा जीवन-क्षेत्र मे देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है,' यह भाषा भी ठीक नहीं है। वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज़ की ज़रूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो, उनको जहाँ ज़रूरत हो रसायन-शास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहार मे काम करने वाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है, वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आस-पास ज़रूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन कराने वाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखाने वाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीने वाले' हों, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते है। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलाने वालों का जीवन विचारमय होगा, उसमे के विचार मौके पर बच्चे को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतन्त्र धंधे की

जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि के बाहर किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर 'पढ़ता हूँ' या 'पढ़ाता हूँ' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूँ' या 'बुनता हूँ' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिए, व्यावहारिक कहिए। पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम, लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र को लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह ज़िम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षा के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की', 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पाएँ, और धीरे-धीरे वे स्वावलम्बी बनें ऐसी उपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इस फल के लिए भी लागू है। खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया है—'इदं प्रापस्ये'—कल वह पाऊँगा—इत्यादि वासनाएँ आनी ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा

करने से मेरी दूसरी चीज़--जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूँ वह--जाती है तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षण-शास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायँ, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जायँ। इसीसे मनु ने 'योऽर्थशुचिः सहि शुचिः'--जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है वही पवित्र है--यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षण मे सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध-वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदरभरण नोहे; जाणिजे यज्ञकर्म्म'--यह उदर-भरण नहीं है; इसे यज्ञकर्म जानें, वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मै शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बिठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा का अर्थ है समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। इस ईश्वर-सेवा मे देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्ति-भर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए, और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की

रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की ज़िम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होने वाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

• ५ •

समष्टि और व्यक्ति

(आचार्य नरेन्द्रदेव)

व्यक्ति और समष्टि का विवाद बहुत पुराना है। दार्शनिकों में भी दोनों मतवादों के पक्षपाती पाए जाते हैं। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में समष्टिवाद का समर्थन किया है। हेगेल ने अपने दार्शनिक विचारों में इसी वाद को आश्रय दिया है। हेगेल के अनुसार सर्व समष्टि के प्रतिरूप इस बाह्य जगत् में संस्थाओं का आकार धारण करते हैं; भाषा, राज, कला, धर्म, इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं की अन्तरात्मा को आत्मसात् करने से ही व्यक्तिगत विकास होता है। संस्थाओं के विरुद्ध व्यक्तियों के इसमें कोई आध्यात्मिक अधिकार नहीं हैं। यह ठीक है कि इतिहास बताता है कि संस्थाओं में परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन विश्वात्मा का काम है। विश्वात्मा अपने महापुरुषों का वरण करता है। यही उसके उपकरण हैं। इनसे अन्यत्र व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं होता। १९वीं शती के अन्तिम भाग में हेगेलवाद का सम्मिश्रण जीव-शास्त्र के विकास-सिद्धान्त से हो गया। 'विकास' (Evolution) वह शक्ति है जो अपने लक्ष्य में परिणत होता है। इसके विरुद्ध व्यक्तियों के भाव और उनकी इच्छाएँ अशक्त हैं अथवा इन्हीं के द्वारा 'विकास' अपना कार्य सम्पन्न करता है। हेगेल के कुछ अनुयायियों ने सर्व समष्टि और व्यक्ति का सामञ्जस्य करने की चेष्टा की। उन्होंने समाज को समुदाय-मात्र न मानकर एक अवयवी माना।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत योग्यता के प्रयोग के लिए सामाजिक संगठन का होना आवश्यक है। किन्तु समाज को अवयवी मानने का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक मर्यादित स्थान और उसकी एक नियत वृत्ति है और उसकी पूर्ति अन्य अवयवों और वृत्तियों से होती है। इसकी उपमा शरीर से दी जाती है। शरीर के विभिन्न अवयवों का अन्योन्य-सम्बन्ध होता है तथा शरीर के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अवयव की वृत्ति नियत है। वह इस विषय मे स्वतन्त्र नहीं है। अपनी नियत क्रिया को सम्पन्न करने में ही अवयव की कृत-कृत्यता है और इसी प्रकार शरीर की स्थिति सम्भव है। इस दृष्टान्त को समाज मे लागू करने का यह फल होता है कि समाज के संगठन मे वर्गों का जो विभेद है उसको दार्शनिक आश्रय प्राप्त होता है।

समाज-शास्त्रियों मे ऐसे विचार के भी हैं जो व्यक्ति पर समाज की प्रधानता स्वीकार करते है। यह समाज का भी अपना एक व्यक्तित्व मानते हैं। इनके अनुसार समाज व्यक्तियों का समुदाय-मात्र नहीं है। समाज के व्यक्तित्व को यह मानव के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा मानते है। इसके अनुसार समुदाय तथा समाज, राष्ट्र, राज्य का ही वस्तुतः व्यक्तित्व है। व्यक्ति एक क्षुद्र, अकिंचन अंश-मात्र है, समाज रूपी वृहत् शरीर का वह एक तुच्छ कण है।

इस विचार-सरणि का २०वीं शती पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। फासिज्म को इसीसे प्रेरणा मिली थी। राष्ट्र और राज्य सब-कुछ है, व्यक्ति कुछ नहीं है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व मे अपने व्यक्तित्व को विलीन करने मे ही व्यक्ति की सफलता और परिपूर्णता है। इसी विचार ने राज्य को सर्वोपरि बना दिया और उसको मनुष्य के जीवन के सब विभागों पर पूर्ण आधिपत्य प्रदान किया।

इस विचार के फैलने के कई कारण हैं। पूँजीवादी युग के जनतन्त्र की असफलता और बड़े पैमाने के उद्योग, व्यापार की अतिशय वृद्धि इसके मुख्य कारण है। राजनीतिक जनतन्त्र व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा

करता है और प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार देता है, किन्तु वह गरीबी और बेकारी की समस्या को हल नहीं करता। इसका इलाज तो यह था कि अधूरे जनतन्त्र को पूर्ण किया जाय, आर्थिक क्षेत्र में भी जनतन्त्र का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए गरीबी और बेकारी को दूर किया जाय। किन्तु ऐसा न करके जनतन्त्र पर ही आक्रमण किया और उसका उपहास किया गया। इससे जनतन्त्र को आघात पहुँचा और लोग यह समझने लगे कि राजनीतिक जनतन्त्र एक प्रकार का ढोंग है। लोगों का विश्वास जनतन्त्र के उन मूल्यों पर से उठने लगा जिनको पश्चिमी यूरोप ने अनेक कष्ट सहकर और अनेक संघर्षों के पश्चात् प्राप्त किया था। इससे फासिज़्म को बल मिला।

पूँजीवाद के प्रसार ने छोटे पैमाने के उद्योग-व्यापार को छिन्न-भिन्न कर दिया। बैंकों के पास अथाह पूँजी हो गई और वह भी इस पूँजी को प्रत्यक्ष रूप से उद्योग-व्यवसाय में लगाने लगे। बड़े-बड़े व्यवसायियों ने छोटे दुकानदारों पर भी धावा बोल दिया और उनके व्यापार को खत्म कर दिया। व्यवसायियों के बड़े-बड़े समुदाय बन गए और इनका मुकाबला करना असम्भव हो गया। पूँजीवाद के विकास का यही प्रकार है। आर्थिक क्षेत्र मे जब यह व्यवस्था उत्पन्न हो गई तब इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ने लगा। जिस समाज में धन का सबसे अधिक महत्त्व हो उस समाज में आर्थिक पद्धति सामाजिक जीवन के सब आकारों को प्रभावित करने लगती है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्त्व केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु समस्त जीवन में घट गया। व्यक्ति एक बड़ी मशीन का कल-पुरज़ा-मात्र रह गया और बृहत् समुदाय की तुलना में तुच्छ और नगण्य हो गया। इस परिस्थिति में अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोचना अर्थशून्य हो गया, और जो इस प्रकार सोचता है वह समाज का शत्रु और व्यक्तिवादी समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य के हित ही सर्वोपरि हैं और उनके लिए

अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नागरिक अधिकार, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आदि व्यर्थ की बकवाद है, और यदि वस्तुतः जनसाधारण सकल अधिकार और स्वत्व का प्रभव और उद्गम-स्थान है तो राज्य, जो जन-साधारण का प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्ति पर प्रधानता पाने का अधिकारी है। इसीलिए शासक अपने शासन को सच्चा जनतन्त्र घोषित करते हैं।

समाजवादी भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए। उन पर हेगेल के विचारों की छाप है। रैमजे मैकडोनाल्ड तक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि व्यक्ति उस दैवी घटना का उपकरण-मात्र है जिस ओर सारी सृष्टि बढ़ रही है। राज्य सर्व समष्टि के राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, वह समष्टि के लिए सोचता-विचारता है।

कुछ समाजवादियों का कहना है कि भविष्य के आदर्श समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभव ही नहीं करेगा बल्कि हर प्रकार से समुदाय में विलीन हो जायगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायगा; उसके विचार, उसकी वेदना और उसकी अभिलाषाएँ सामुदायिक हो जायँगी।

यह विचार-सरणि व्यक्ति-महत्व को सर्वथा विनष्ट कर देती है और उसकी बलिवेदी पर समुदाय के महत्व को बढ़ाती है। किन्तु मार्क्स तथा एंगेल्स की शिक्षा के यह सर्वथा प्रतिकूल है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक के स्वच्छन्द विकास से सबका स्वच्छन्द विकास होता है। एक दूसरे स्थल पर मार्क्स कहते हैं कि श्रमजीवी तभी स्वतन्त्र है जब वह अपने उपकरणों का मालिक है। यह स्वामित्व दो में से एक रूप धारण करता है और जब व्यक्तिगत स्वामित्व का नित्य लोप होता जाता है तब उसके लिए केवल सामुदायिक स्वामित्व रह जाता है। समाजवाद के उपक्रम के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो मालूम होगा कि वह उस पूँजीवादी समाज के विरोध में उत्पन्न हुआ था जो मनुष्य को वस्तु-उपकरण-मात्र बनाकर गुलाम बनाना चाहता

था। मार्क्स व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए समाजवाद की स्थापना चाहते थे। समुदाय का अपना ऐसा कोई आन्तरिक माहात्म्य नहीं है। इसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता की गारंटी देने के लिए है। समाज में रह-कर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है और उद्योग-व्यवसाय के युग में राष्ट्र की सम्पत्ति के समाजीकरण से ही इस स्वतन्त्रता और पूर्ण व्यक्तित्व का आधार सम्भव है। किन्तु समाजीकरण का फल यह होता है कि राज-कर्मचारियों की प्रधानता हो जाती है और जब राजनीतिक और आर्थिक शक्ति राज्य में केन्द्रित हो जाती है तब सारा झुकाव समु-दाय को प्रधानता देने का हो जाता है। तब समुदायत्व ही सिद्धान्त बन जाता है और जो आरम्भ मे एक लक्ष्य के पाने का उपकरण-मात्र था वह स्वयं लक्ष्य हो जाता है। इस दोष का निवारण हो सकता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामुदायिक आर्थिक जीवन मे कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है।

समष्टिवाद के विरुद्ध काण्ट व्यक्ति को किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं मानता। उसका विचार है कि प्रत्येक मानव स्वतः उद्देश्य-स्वरूप है। उसका महत्त्व सबसे अधिक है। मानव गौरवपूर्ण है, उसके व्यक्तित्व का विकास सर्वोत्कृष्ट नियम है। इसे व्यक्तिवाद कहते हैं। किन्तु कुछ लोगों ने इसे अतिव्यक्तिवाद का रूप दे दिया। उनका कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए जायदाद पर उसका स्वामित्व होना आवश्यक है। स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित करनी चाहिए। यह अनियन्त्रित उद्योग व्यापार के समर्थक है। उनका मत है कि इस स्वतन्त्रता की प्रतिषेध करना व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का प्रतिषेध करना है।

वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है। आज के युग में आर्थिक क्षेत्र में समुदायत्व अनिवार्य है। इस समुदायत्व को स्वीकार करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं, यही मानव का उत्कृष्ट मूल्य है। उसको पूर्ण विकास का अवसर मिलना चाहिए। आज करोड़ों लोग इस अवसर से वंचित हैं। परिस्थितियाँ ऐसी है जो उसको विकास का

अवसर नहीं देतीं। इन परिस्थितियों को बदलना चाहिए। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका विकास होता है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है, मर्यादाहीनता नहीं है। विकास-प्राप्त मानव सुसंस्कृत है और जो दूसरों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है, वह संयत होता है। समाज में रहकर ही मानवोचित गुणों का विकास होता है। दया, भ्रातृत्व, त्याग आदि गुण समाज में रहकर ही प्रादुर्भूत होते हैं। समाज द्वारा ही मानव का विकास हुआ है। किन्तु यह विकास कुछ मर्यादा स्वीकार करके ही हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि एक मर्यादा या नियन्त्रण स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, दूसरा बाहर से आरोपित होता है। समाज मे रहकर तरह-तरह के नियम मानने पड़ते हैं, अन्यथा समाज विश्रृङ्खल हो जाता है और किसी को भी विकास का अवसर नहीं मिलता। अतः सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उचित मर्यादा का स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु यदि राज्य की ओर से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि उसके नागरिक अधिकार सुरक्षित नहीं है, यदि उसको अपने भावों के व्यक्त करने तथा दूसरों के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन बनाने की स्वतन्त्रता नहीं है तो व्यक्ति के विकास में बाधा पहुँचती है।

प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। सामाजिक संगठन में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता था। समाज वर्णों में विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, सामाजिक नियन्त्रण कुछ बातों मे कठोर था। खान-पान, विवाह-सम्बन्ध और जीविका के विषय में कठोर नियन्त्रण था, किन्तु विचार की स्वतन्त्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को माने या न मानें, आपका धर्म चाहे वेद-बाह्य हो, आप समाज से बहिष्कृत नहीं हो सकते। किन्तु जिस काल में प्रतिलोम विवाह मना था उस काल में प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक् होना पड़ता था और जिस

काल मे केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी उस काल मे असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना पड़ता था। इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज़ और नियमों से बँधे हुए थे। जो अधिकार द्विजों को प्राप्त था वह शूद्रों और दूसरे लोगों को नहीं था। आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ण की आजीविका के नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास मे रुकावट होती है। किन्तु जो सन्यास ग्रहण करता था और घरबार छोड़कर आध्यात्मिक चिन्तन मे लगता था उसके लिए सामाजिक नियम नहीं थे। श्रमण सब कोई हो सकते थे और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उपनिषदों में लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नहीं है। स्वर्ग और नरक भोग-भूमियाँ हैं। मनुष्य-जन्म मे ही मोक्ष की साधना हो सकती है। भव-चक्र से छुटकारा पाना और सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होना जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है। सब दर्शनों का ध्येय मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस या निर्वाण है। इस अर्थ में सब दर्शन मोक्षशास्त्र हैं। जो परम पुरुषार्थ के लिए यत्नशील है वह साधारण जन के समान आचरण नहीं करता। उसकी चर्या भिन्न है, उसका समाज मे सबसे अधिक आदर होता है, उसके लिए समाज के बन्धन नहीं हैं। अतः हमारे देश में आध्यात्मिक जीवन के विषय में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य था। किन्तु सामाजिक बन्धन कुछ बातों में कठोर था। प्राचीन काल में सब देशों में अपने समाज पर व्यक्ति को बहुत-कुछ आश्रित रहना पड़ता था। यही बात यहाँ भी थी। इसीलिए व्यक्ति पर समाज का नियन्त्रण भी अधिक था। सम्मिलित कुल की प्रणाली मे कुल का कठोर नियन्त्रण होता है। कुल इकाई समझा जाता है, व्यक्ति नहीं। मनुष्यों का संगठन कुल-कबीलों से गुज़रकर राष्ट्र के स्तर तक पहुँचा है और अब वह सब साधन एकत्र हो रहे हैं जो एक संसार, एक राज्य की भावना को साकार कर सकते हैं। पश्चिम यूरोप का व्यक्ति किस प्रकार कुल और धार्मिक संस्थाओं के नियन्त्रण से स्वतन्त्र हुआ है और किस प्रकार उसने राज्य

के विरुद्ध लड़कर नागरिक अधिकार प्राप्त किये हैं, इसका इतिहास बड़ा रोचक है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ राज्य की ओर से कोई ऐसे नियन्त्रण न थे जिनसे विचार-स्वातन्त्र्य को क्षति पहुँचे। समाज का नियन्त्रण अवश्य था। उसकी ओर से भी विचार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न थी। किन्तु कुछ विषयों में कार्य की स्वतन्त्रता न थी। समष्टि का इन विषयों मे व्यक्ति पर अक्षुण्ण अधिकार था।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को अमर्यादित स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। मर्यादा को स्वीकार करके ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है व्यक्ति को यह स्वीकार करना पड़ेगा। यह ठीक है कि व्यक्ति पर परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति परिस्थिति को बदलता है। मानव और प्रकृति की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जीवन और समाज स्थिर नहीं हैं। उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती रहती है। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप हो जाय और कानून, परम्परा और रूढ़ि द्वारा उसको स्वतन्त्र रीति से सोचने और काम करने का अधिकार न दिया जाय तो समाज की उन्नति का क्रम बन्द हो जाय और मानवोन्नति असम्भव हो जाय। इतिहास बताता है कि जिस समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारों का दमन हुआ उस समाज में गत्यवरोध हुआ और उसका ह्रास और पतन हुआ। विचार और संस्था के इतिहास मे एक समय आता है जब वह जड़ और स्थिर हो जाती है। परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और वे नये विचारों और नई संस्थाओं की माँग करती हैं। किन्तु पुराने विचार और पुरानी संस्थाएँ मनुष्य पर ऐसा प्रभाव जमाए रहती हैं कि वह नये सिरे से सोचने को तैयार नहीं होता। अतः समाज के स्वस्थ जीवन के लिए ऐसे केन्द्र चाहिएँ जहाँ से पुराने विचारों और संस्थाओं की आलोचना होती रहे और जिनसे नये विचारों के उपक्रम मे सहायता मिलती रहे, जिससे जीवन का प्रवाह

कभी रुके नहीं और जीवन किसी सोते में आबद्ध न हो। इसके लिए विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मर्यादा को समझे तो व्यक्ति और समष्टि में कोई झगड़ा नहीं है। आखिर, यह व्यक्ति का विकास है क्या ? अपनी निहित शक्तियों का पूर्व आविर्भाव। यह कार्य समाज मे रहकर ही होता है, अन्यथा नहीं। ज्यों-ज्यों समाज ऊँचे स्तर मे उठता है त्यों-त्यों व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढ़ती जाती है। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की परस्पर तुलना करने से मालूम होगा कि राष्ट्र के विचार, अनुभव और कल्पना मे कितना आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है। पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति, जो सकल विश्व को अपने व्यक्तित्व में समा लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लंघन करता है; जाति, धर्म, रंग का भेद न करके मनुष्यमात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है, तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है। उसके व्यक्तित्व की उदारता, समृद्धि तथा वैचित्र्य का क्या कहना ? उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उसकी गंभीर और कोमल अनुभूति सकल विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है। ऐसा मनुष्य जगद्वन्द्य है। ऐसे व्यक्तित्व के लिए स्वच्छन्द वातावरण चाहिए। अतः व्यक्ति और समष्टि के बीच सामंजस्य का होना जरूरी है। समाज का उचित हस्त-क्षेप कहाँ और किस दरजे तक हो सकता है तथा वह कौनसा क्षेत्र है, उसकी क्या सीमाएँ हैं जिसमे व्यक्ति का एकमात्र आधिपत्य होना चाहिए—इन बातों का निर्णय होना आवश्यक है।

हमारे समाज मे विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता भी रही है। इसी कारण आज भी हम स्त्रियों को या हरिजनों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नहीं करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों को वोट के सामान्य अधिकार के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है ! हाँ, हमारे यहाँ सामाजिक अधिकार देने

के लिए अवश्य विरोध किया जाता है, क्योंकि सामाजिक संग्रन्थन ही हिन्दू-धर्म की विशेषता है। इस विचार-स्वातन्त्र्य की, जो हमारी सबसे बड़ी विधि है, हमको रक्षा करनी है और उसकी युग के अनुकूल वृद्धि भी करनी है। बिरादरी के बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्ति उनके कठोर नियन्त्रण से मुक्त हो रहा है। किन्तु एक ओर अतिव्यक्तिवाद का भय है और दूसरी ओर यह भय है कि कहीं भविष्य मे अतिसमष्टिवाद व्यक्ति को ग्रसित न कर ले। हमको इन दोनों भयों का प्रतिकार करना है और एक ऐसी व्यवस्था के लिए यत्नशील होना है जो व्यक्ति और समष्टि का उचित समन्वय कर सके। इसमे सन्देह नहीं कि मानव से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि समाज में रहकर ही मानव इसका अधिकारी बन सकता है। समाज से वह अपनी शक्तियों के विकास के लिए सामग्री पाता है, समाज में ही वह अपनी शक्तियों का प्रयोग करके उनको विकसित करता है और समाज को ही अपना सर्वस्व देकर पूर्ण और कृतकृत्य होता है।

• ६ •

जीवन में साहित्य का स्थान

(मुन्शी प्रेमचन्द)

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियादें मिट्टी के नीचे दबी पड़ी हैं। उन्हें देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन-पर्यन्त आनन्द ही की खोज मे पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में; लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दरसाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, बीभत्स में भी कोई आनन्द है; अगर ऐसा न होता तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। बीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है वह कितना बीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना बीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस मे सुन्दर खोजता है—राजा के महल मे, रंक की झोंपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर, ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोंपड़ी मे जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है, महल में नहीं। महलों मे तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप मे है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों दूर भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध; अतएव हमारा विचार है कि साहित्य मे केवल एक रस है, और वह शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य मे की जा सकती है। जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो, जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे जब उसमे सुन्दर का समावेश हो। खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है—एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है

और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं; हिम से ढके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के लिए गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथक्ता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्री रामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान् विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं; इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है वह उतना ही महापुरुष है; यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गए हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी ये सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त वह कुछ और भी होता है। उसमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वे वांछनीय होती हैं। जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम उनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वे हमें नाश और पतन की ओर ले जायँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिससे

वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि वह उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्म-विकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी मार ले जाता है। यही कारण है कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, इञ्जील, ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह-मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया

था। समस्त मानव-जाति से उनके जीवन का सामञ्जस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते ?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते है, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् मे प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार मे आ जाते है। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दु.ख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं मे, ईट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों मे अपने को अधिक पाते है, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते है। हम अपने निकटतम बन्धु-बान्धवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्‌गार को जानते है, उसका मन हमारी नज़रों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमे कहाँ मिलते है, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों

से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित-हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तब्दीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत है, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है; और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वे अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वे बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ, पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असम्भव है कि करुणा, दया,

प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कत्ले-आम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्ले-आम सत्य घटना है, तो नादिराशह के निर्दयी होने मे कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्ले-आम को बन्द करने का हुक्म दिया था! दिल्ली के बादशाह का वज़ीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफ़सर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेली पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा :

कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।।

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को ज़िन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फ़ारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृङ्गार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल मे मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श किया और कत्ले-आम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मै उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आए। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैण्ड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव-

तुल्य है। ज़माने के छल-प्रपञ्च या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामञ्जस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ है, साहित्य के ही बनाये हुए है। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। यूरोप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पाएँगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का; जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु मे जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं; नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयॉ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के कॉंटे पर तोली जा रही है, यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे मे स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं, पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका है कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा, चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरे मार रहा हो। उसमे नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। यूरोप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय

कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वे आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते, पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम ज़िम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखे काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह मे बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की ज़रूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मज़ेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इञ्जीनियर नहीं कहलाता, इञ्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान्

पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफ़ी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्त्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्श-वादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वाञ्छनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, ता इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके ही हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों; सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्म-ज्ञानी !

• ७ •

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

(डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी)

भारतीय धर्म-साधना का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्म—मत का अध्ययन करने के लिए वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषाओं में लिखित साहित्य ही है, फिर चाहे वह संस्कृत में लिखा गया हो या पाली में या प्राकृत में। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखें और भारतीय जन-समूह को ठीक-ठीक पहचानने की कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्य-भाषाओं में लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, इस देश की जनता के विश्वासों और धर्म-साधनाओं की जानकारी के लिए वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्यों की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देश में रहती है और उनमें से अधिकांश धीरे-धीरे आर्य-भाषा-भाषी होती गई हैं। इन जातियों की अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओं में उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यों से भी पहले देश में महान् द्रविड़ सभ्यता विद्यमान थी। उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद में भारतीय धर्म-साधना के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं; पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड़ सभ्यता का सम्बन्ध सुदूर

मिस्र और बैबिलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड़ जाति (रेस) की कल्पना कल्पना-मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्य-पूर्व-द्रविड़ सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओं के अध्ययन से एक बिलकुल नई बात की ओर पण्डित-मण्डली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल-भाषा-भाषी लोगों की जो अब तक जंगली समझकर उपेक्षा की गई थी वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जन-भाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिन्दू समाज में अनेक जातियाँ हैं, जिनका मूल निषाद (आस्ट्रो-एशियाटिक या अस्ट्रिक) जातियों में खोजना पड़ेगा। हमारे अनेक नगरों के नाम इस भाषा से लिये गए हैं, खेती-बारी के औज़ार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओं के आर्यरूप हैं और हिन्दू धर्म में श्रद्धा और सम्मान पाने वाले बहुत से विश्वास मूलतः निषाद जातियों के हैं। प्रो० सिल्वालेवी और उनके प्रज्यूलुस्की आदि शिष्यों ने जिन थोड़े से भाषा-शास्त्रीय तत्त्वों का रहस्योद्घाटन किया है उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म-विश्वासों का मूल भी इन जातियों में खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्येतर विश्वासों को द्रविड़-विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड़-विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्म-फल में विश्वास भी द्रविड़ सभ्यता की देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तप पर जोर देना भी द्रविड़-विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातों की अधिक छान-बीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासों का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि

अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातों को भी बता सकते हैं। इस प्रकार 'कूर्म पुराण' की रचना 'छान्दोग्य उपनिषद्' के बाद में हुई है, परन्तु इसलिए यह जरूरी नहीं कि कूर्म पुराण मे कही हुई सभी बाते छान्दोग्य मे कही हुई सभी बातों से नई ही हों। हो सकता है कि इस पुराण मे संग्रहीत कुछ बातें छान्दोग्य से भी पहले की हों। जैन-आगमों का सकलन बहुत बाद मे हुआ है, पर इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमों मे संकलन-काल के पूर्व की बातें नहीं है। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी-पुस्तक मे किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। उस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमे अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

जैसा कि बताया गया है कि इस देश में अनेक आर्य-पूर्व जातियाँ थीं। उनकी अपनी भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्यों को इन जातियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणों मे असुरों, दैत्यों और राक्षसों के साथ इन प्रचण्ड संघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियों को देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पण्डित ऐसा विश्वास करने लगे है कि विश्व-व्यापी जल-प्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है; भारतीय साहित्य में तो है ही। कहा जाता है कि इस महा प्रलय में बहुत-कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानव-जाति को नये सिरे से संसार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जल-प्रलय के पूर्व की सभी जातियों को 'देवता' मान लिया गया है। उनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गई उन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामों से ही पुकारा गया; पर इन शब्दों से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियों को भी देवयोनिजात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणों की कल्पना की गई। स्वयं मैं इस मत को सन्देह की दृष्टि से ही देखता हूँ, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये संघर्ष बहुत पुराने

ग्रौर प्रायः भूले हुए ज़माने के परम्परालब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य-भाषा-भाषी होती गई हैं। कुछ तो अन्त तक आर्य-भाषा-भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानों में आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्म-विश्वासों को कथंचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य-भाषा-भाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासों को आर्य भाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओं का संस्कृत में आना बहुत विचार-संघर्ष का कारण हुआ। सन् ईस्वी की प्रथम सहस्राब्दी मे ही इस संघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में तो किसी मत को वेद-बाह्य कहकर लोक-चक्षु मे हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण-संस्कृति का प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेद-सम्मत मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी है। हम इसे वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेद-बाह्य भारतीय धर्म का प्रसंग उठने पर बौद्ध और जैन मतों की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भाव-धारा भी इस देश मे काफी प्रबल थी जो वेद-बाह्य भी थी और श्रमण-संस्कृति से भिन्न थी। इस वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति के विषय में अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उस पर परवर्ती काल का रंग भी चढ़ गया है।

विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यों में एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाई जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेद-बाह्य या श्रुति-विरोधी घोषित कर देते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इन वेद-बाह्य और श्रुति-विरोधी घोषित किये गए सम्प्रदायों में अपने को वैदिक और

श्रुति-सम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेद-बाह्य कहे उसी को वेद-बाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्य ने पाशुपतों को वेद-बाह्य कहा था और बाद में शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहाने का अपयश भोगना पड़ा। परवर्ती साहित्य में एकमत का आचार्य दूसरे विरोधी मत को प्राय: ही वेद-बाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपने को वेद-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे वहाँ कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शक्ति और शैव-मत अपने को केवल वेद-विरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेद-मार्ग को निम्न कोटि का भी समझते रहे। इनके ग्रन्थों में प्रत्येक वेद-विहित मत और नैतिक आदर्श को हीन बताया गया है और अत्यन्त धक्कामार भाषा मे आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्त तक ये मत अपना वेद-विरोधी स्वर कायम नहीं रख सके। शुरू-शुरू मे इनके धक्कामार और तिलमिला देने वाले वचनों की पारमार्थिक व्याख्या की गई और बाद में उन्हें विशुद्ध श्रुति-सम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तर की अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्य-पूर्व सभ्यताओं की स्मृति वहन करते आ रहे है। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युग में प्रचलित लोक-जाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों की रीति-रस्में हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकती है। हो सकता है कि ये हमें घने अन्धकार को भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के कुज्झटिकाच्छन्न काल मे पैठ सके।

मनुष्य के उत्थान-पतन का इतिहास बड़ा मनोरजंक है। न जाने कितने मूलो से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास संचय किया है। जाति-गत

और सम्प्रदाय-गत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधना का इतिहास इस दिशा में बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बड़े देश और बहुत दीर्घकाल को व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतों का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतों से प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आए हैं। जो लोग धर्म--मत को अनादि और सनातन मानते है वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म-विश्वास बदलते रहे हैं, कभी-कभी उनके स्थान पर एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पाई है और कभी-कभी उनमे थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र मे कहा है—'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्।' यह कथन ऐतिहासिक अर्थ मे सत्य है। केवल धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासों का वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिए। पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरों मे विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्व और भी गहराई में है। वह सचमुच ही गुहा मे निहित है। उस अन्ध-तिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म साधना के विद्यार्थी के लिए सम्माननीय है।

• ८ •

जिज्ञासा

(डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल)

मैं कौन हूँ, यह सृष्टि क्या है, इसका बनाने वाला कौन है, यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा, मैं स्वयं भविष्य में रहूँगा या नहीं, इससे पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं, मैं सुखी क्यों हूँ, प्राणी दुखी क्यों है, उनके कर्मों का फल होता है या नहीं, सच्चा सुख क्या है, मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है, इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान विश्वास के योग्य है या नहीं—इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई समय ऐसा नहीं हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चैन से बैठने दिया हो। विचारों का बवण्डर न केवल संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणी को ही झकझोरता है, वरन् कभी-कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन में भी उथल-पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्वं कोऽहम्' की मीमांसा मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि अन्न-वस्त्रादि द्वारा उसका सामान्य रहन-सहन। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम की सत्यता को समझ सकते हैं। एकछत्र राज्य का अपरिमित वैभव जिस विलास की सामग्री को उपस्थित कर सकता है, उसके बीच सुकुमारता से पले हुए राजकुमार सिद्धार्थ को कोई भी प्रलोभन

विषयोपभोग के बन्धन में बांधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन में ऊपर कहे हुए विचारों का चक्र चलता है, विषयों का मधुर श्रास्वाद उसे विष के समान जान पड़ता है। विचारों की वह झंझावात ही सच्ची जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य श्रग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का एकमात्र पुण्य-स्थल है।

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करने वाले मनुष्यों ने जिज्ञासा को बड़ा महत्त्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहाँ एक विशेष श्रधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमें 'जानने' की भूख नहीं है, वह दार्शनिक ज्ञान का श्रधिकारी नहीं माना जा सकता। बहुधा जब हम श्रपने सम्बन्ध से श्रथवा श्रन्य किसी के सम्बन्ध से मृत्यु के नाटक के श्रति सन्निकट होते हैं, तब हमारी जिज्ञासा-वृत्ति जागरूक हो उठती है श्रौर उस समय 'कस्त्वं कोऽहम्' के प्रश्न हमें सच्चे श्रौर श्रावश्यक जान पड़ते हैं। हमारे साहित्य में जिज्ञासा-वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता[1] है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य में होता है। नचिकेता (न + चिकेतस्) शब्द का श्रर्थ ही यह है कि जिसके श्रन्दर जानने की उत्कट इच्छा हो परन्तु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है: नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्

१. इसका उपाख्यान कठ उपनिषद् में है। यह वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा में बूढ़ी गौएं दान दीं। तब पिता से वह बार-बार पूछने लगा कि 'मुझे किसको दे रहे हैं?' पिता ने रोष में कह दिया कि मैं तुम्हें यम को श्रर्पित करता हूँ। इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर इस जिज्ञासा को छोड देने के लिए उसे फुसलाया, किन्तु नचिकेता ने श्रपनी टेक न छोड़ी। श्रन्त में यम ने उसे 'ब्रह्मज्ञान' का उपदेश दिया।

(कठ उपनिषद् १।२२)

अर्थात् मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्व वाला है—इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है, इसीलिए इस शंका के समाधान का वरदान ही सर्वातीत है। नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखता है—चिरंजीवी पुत्र-पौत्र, बहुत से पशु-सवारियाँ, अमित धन-राशि, पृथ्वी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, कल्पान्त आयु—जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम हैं, हे जिज्ञासु, उनको अपनी इच्छानुसार तुम चुन सकते हो। यही वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था। परन्तु दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा इस लौकिक सामग्री से कभी सम्भव नहीं। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर दार्शनिक संसार के प्रमुख तोरणद्वार पर आज भी अमिट अक्षरों में लिखा हुआ है—यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के हैं? इनसे इन्द्रियों का तेज क्रमशः क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है, इसमें नृत्य-गीत के लिए स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले सुनहले टुकड़ों से ही मनुष्य का पेट कब भरा है?[१] सुनहरी दलदल में पड़ने से पहले ही उस महान् प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न करना उचित है।

यह मनःस्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् का नचिकेता-उपाख्यान इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। जितने ज्वलन्त रूप में दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमें यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो। जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारों की उद्भावना व्योमविहारी पक्षिराज गरुड़ की उड़ान क सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्व-ज्ञान की उधेड़-बुन बुद्धि का कौतूहल-

१. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (कठ उपनिषद् १।२७)

मात्र रह जाता है। दिमाग की पैंतरेबाज़ी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग पर ज़ोर डालकर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी नहीं की गई, हमारा आशय तो इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद जो तत्त्व-ज्ञान की मीमांसा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को ठीक तरह समझ लिया जाय।

यदि उपरोक्त दो प्रकार की परिस्थिति मे पनपने वाली दार्शनिक विचारधाराओं के भेद की गहरी छान-बीन की जाय तो हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं। पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमको दर्शन के लिए जो अंग्रेजी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त करना चाहिए। अंग्रेजी में दर्शन को Philosophy (फ़िलासफ़ी) कहते हैं। पश्चिम की अन्य भाषाओं में भी प्रायः यही शब्द व्यवहृत होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ सर्वसम्मति से यूनान में हुआ, उसी प्रकार 'फ़िलासफी' शब्द भी यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी शब्द Philo-sophia का अर्थ है ज्ञान (Sophia—wisdom) का प्रेम (Philo—love)। ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमांसा से है। तत्सम्बन्धी रुचि ही Philosophy है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना' अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार करना। ज्ञान के जिस विवेचन में सत्य या तत्त्व को स्वयं न देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहना कठिन है। वही तत्त्व सत्य है, जिसके सम्बन्ध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है, यह हमारे अनुभव का विषय है अर्थात् यह हमारा 'दर्शन' है। बुद्ध भगवान् अपने उपदेशों में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया करते थे कि मैं जिस मार्ग का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो तब तक वह मानव-जीवन के लिए असंदिग्ध या महत्त्वपूर्ण तत्त्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। दर्शन का सम्बन्ध जीवन के साथ

अति घनिष्ठ है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नहीं होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञान-रश्मियाँ प्रस्फुटित हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है। हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम ऋषि है। संस्कृत-भाषा में जो अद्भुत निरुक्त शास्त्र की सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है--

ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त २।११)

अर्थात् ऋषि शब्द का अर्थ है द्रष्टा (देखने वाला)। शुष्क ऊहापोह करने वाला तार्किक भारतीय अर्थ में 'दार्शनिक' की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिए 'दर्शन' होना चाहिए, अथवा और भी पवित्र शब्दों में कहें, तो 'ऋषित्व' होना आवश्यक है। इस देश की परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने-आपको ज्ञान का अधिकारी कहे, उसे यह कहने की सामर्थ्य पहले होनी चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है।' यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है, जो यह कह सके--"वेदाह-मेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" अर्थात 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत है।' 'एवं मया श्रुतं' कहने वाले के पास स्वयं अपने दर्शन का अभाव है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं।

हमारे साहित्य में दर्शन के लिए प्राचीन शब्द 'आन्वीक्षिकी' प्रतीत होता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं का वर्गीकरण करते समय आन्वीक्षिकी पद का ही प्रयोग किया है। आन्वीक्षिकी शब्द में भी (अनु + ईक्ष) ईक्षण या देखने का भाव है। डॉ० बैटी हाइमान ने भारतीय विचार-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन पारि-भाषात्मक शब्दों के विषय में ठीक ही लिखा है—

"यदि हम पाश्चात्य शब्द Philosophy और उसके संस्कृत पर्याय

पर विचार करे, तो दोनों का मौलिक भेद तुरन्त प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द Philo-Sophia का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम' अर्थात् मानव-तर्क, उसका क्षेत्र, व्यवसायात्मक निश्चय एवं विशेषता की परख। इसके प्रतिकूल संस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी' का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण; अर्थात् सृष्टि के जितने पदार्थ हैं, उनके मार्ग से चलकर तत्त्व वस्तु की खोज या तत्त्व-निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते हैं कि हम इनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सकें, केवल पदार्थों की छान-बीन या वर्गीकरण ही हमारा ध्येय नहीं।"

सच्ची जिज्ञासा के कारण जो 'कस्त्वं कोऽहम्' प्रश्नों की मीमांसा की जाती है, उसके अनुसार 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है। दर्शन का मानव-जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, उसका भी जिज्ञासा के साथ गहरा सम्बन्ध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कौतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बन्द होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। उपनिषद् में जो यह कहा है कि यह आत्म-तत्त्व केवल 'मेधा' या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुत होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु-वृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए है। महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधे-सादे शब्दों में यों कहा है—

का भा जोग-कथनि के कथे।
निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल है? बिना दही को मथे घी नहीं निकल सकता। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है, जैसे स्वयं दही मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक जीवन-क्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में दर्शन का फल 'साधना' है। साधना के ही नामान्तर 'तप' या 'व्रत' या दीक्षा' हैं। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से ही आत्म-तत्त्व का दर्शन हो सकता है ।

ये बाते साधना की ओर संकेत करती है । जीवन मे दर्शन का फल है साधना का उदय । साधना की भावना से सात्विकी श्रद्धा का जन्म होता है । प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा या श्रद्धा का अभाव नहीं समझना चाहिए । जिज्ञासा का अभाव अश्रद्धा है । जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना यही श्रद्धा का लक्षण है । आत्म-विश्वास ही श्रद्धा है । जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता में विश्वास होता है । यही उसका पाथेय है ।

अपने में अविश्वास का होना यह अश्रद्धा का रूप है । प्रश्नों का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है । सन्देह या प्रश्नों को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है । जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम मे परिवर्तन नहीं होता, तो मानो जिज्ञासु 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ने से बचना चाहता है । इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्ततः नैतिक बन जाता है ।

दार्शनिक कैंट ने एक स्थान पर कहा है—

"नीतिमय जीवन का प्रारम्भ होने के लिए विचार-क्रम में परिवर्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है ।"

भारतीय परिभाषा में इस प्रकार के जीवन-क्रम की संज्ञा तप है । इसीलिए तो यहाँ का प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय जीवन की एक-न-एक साधना की शिक्षा देता है । ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा वेदान्त-सांख्य-योग सबके साथ एक जीवन-मार्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी कारण भारतवर्ष में जीवन से विरहित कोई दर्शन नहीं पनप सका । जिस दर्शन का जीवन के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध था, वही विचार यहाँ सबसे अधिक फूला-फला ।

• ९ •

व्यक्तित्व

(श्री माखनलाल चतुर्वेदी)

शासन की विधि पूरी करना एक बात है, शासन की कला का ज्ञान होना और बात।

कला के ज्ञाता मे व्यक्तित्व (पर्सनैलिटी) होता है, विधि को पूरा करने वाला इसकी ओर बहुत कम लक्ष्य देता है। कला कुछ व्यक्तियों का ही नहीं, कुछ जातियों तक का स्वभाव हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति में जीवन के कम-से-कम दो हिस्से रहते है--एक तो उसका कार्य, जिसकी जिम्मेदारी वह कुली की तरह निबाहने के लिए बाध्य है और दूसरे उसका अपना व्यक्तित्व, जो उसके एक या अनेक कार्यों मे चमक चढ़ाता है।

दूसरे रूप में मनुष्य दो स्वरूपों मे विश्व के सामने खड़ा है—एक तो उसका व्यक्तित्व, जिसके कार्यों और जिसकी ज़िम्मेदारियों को वह अपना कहकर विश्व के सम्मुख अपने को, खुला उघाड़ा बे-पर्द छोड़ने को बाध्य होता है, और दूसरे वह व्यक्ति खुद, जो केले के भीतरी स्तम्भ की तरह, व्यक्तित्व के एक या अनेक पर्दों की तह में उज्ज्वल या निरुज्ज्वल बनकर छिपा रहता है। व्यक्तित्व कहते है उस वस्तु को जो मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन में सम्बन्ध स्थापित रखती और उन दोनों विभाजित जीवन के हिस्सों को एक-दूसरे का जीवन-रस पान करने का अवसर देती है। व्यक्तित्व बाहर अपने-आप प्रकट होता है, और भीतर

श्रमपूर्ण जीवन को 'संगठित' किया करता है। व्यक्तित्व के योग्य दर्शन उस व्यक्ति के पास हो सकेंगे जो अपने अन्तरतम से बहुत दूरी पर खड़ा नहीं होता, न जो अपने अन्तरतम की उपेक्षा करता है और न जो अपने अन्तरतम का अपनी क्रूरता पूरी करने के लिए सौदा करता है।

व्यक्तित्व बहुत शीघ्र पकड़ा जा सकता है। अकड़ और आडम्बर का नाम व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्व की आँखें हमें न्यौता देकर बुलाती हैं, उसमें हमें बे-इख्तियार प्रेम और विश्वास भी होने लगता है। जिसमें व्यक्तित्व का अभाव होगा, उसकी ओर हमारी तवज्जोह ही नहीं होगी, और अपनी ओर हमारा ध्यान खींचने के लिए प्रचार या षड्यन्त्र किसी ने किया हो, तो हमारा विश्वास उसमें न होगा। व्यक्तित्व को और खेल कम भाता है, वह प्राणों का खेल खेलकर ही जिन्दा रहता है।

व्यक्तित्व के अभाव मे व्यक्ति, अपने-आपको जगत् का महा-प्रमुख बनाये रखने के लिए कितने ही उद्योग करता है—उसमें शील के नाम पर तकल्लुफ़ होता है, उसको चर्चा में और को अपने से छोटा बताने का अप्रत्यक्ष प्रचार होता है, और लोगों का जी दुखाने के छिपे ताने होते हैं। वह दलालों के दलाल की हैसियत से विश्व के बाजार मे बड़ा आदमी बनकर रहना चाहता है; परन्तु षोडशोपचार, भक्ति के अभाव मे जिस तरह भगवान् को खींचने में समर्थ नहीं हो सकते, उसी तरह बाहरी समय-साधक आभूषणों और उपकरणों के बल पर व्यक्तित्व का नारा ही बुलन्द किया जा सकता है, उसकी प्राप्ति नहीं की जा सकती।

व्यक्तित्व के अभाव में हम हृदय के रूखेपन और कोमल सम्बन्धों में उद्दण्डता के रूप में परिचित होते हैं; ऐसे व्यक्ति के भावों में अतिरेकमय चंचलता होती है; ऐसे व्यक्ति के मन का यद्यपि पता नहीं लग पाता परन्तु यह जानकर कि हृदय की जागीर उसके पास थोड़ी है, हम प्रारम्भ ही से उसके मनोभावों से बचने और उसके तकल्लुफ़,

व्यावहारिकता और प्रचार के संकरे जाल से मुक्त रहने की सावधानी लेते हैं। ये सब कठिनाइयाँ, यह स्वभाव की खराबियाँ हममें तभी जन्म लेती या फूलती-फलती हैं, जब हम बाहरी जीवन को भीतरी जीवन के प्रति उत्तरदायी न मानकर अपनी दुनिया बनाने बैठते हैं। परिणाम यह होता है, विश्व में कोई भी अपना हमारा नहीं होता। और हम जिस-जिस क्षेत्र से गुज़रे होते हैं, यद्यपि तकल्लुफ़ और व्यावहारिकता के नाम से उन सब स्थानों की निन्दा न करने और व्यक्ति न तोड़ने का तौल सँभालते रहते हैं किन्तु हम पर कोई विश्वास नहीं करता, और प्रायः व्यक्ति टूट जाते हैं; क्योंकि एक तो मीठे शब्दों और चतुराई से अपनी महानता साबित करने के सिवा कभी कुछ हमारे पास नहीं होता, दूसरे हम कोमल-से-कोमल भावों का सौदा करने लगते हैं, और तीसरे हम आत्म-निवेदन (कन्फैशन) पर विश्वास न करके अपने हृदय का समस्त मल छिपाये रहते हैं, जो हमें भीतर-ही-भीतर विश्व की सेवा और उपयोगिता से रहित करता जाता है। हमारे जीवन की कोमलता, सेवा और दोषों समेत खुलेपन का अभाव ही हमारे व्यक्तित्व का अभाव ही है। व्यक्तित्व वह नहीं जिसका लोगों पर आतंक छाये, व्यक्तित्व वह है जिसकी तसवीर ज़माना अपने-आप में खोदता चला जाय।

इसी व्यक्तित्व की जरूरत हमें जीवन के शासन आदि अनेक क्षेत्रों में होती है। उस समय व्यक्तित्व की रक्षा के लिए हमें अपनी लहरों, अपने मनोवेगों, अपनी तौल सँभालने के नाम पर तौल बिगाड़ने वाली भीतरी आदतों पर पहरा देने की जरूरत होती है; इसलिए कि जिससे भीतरी और बाहरी विश्व के बीच हम बे-मेल न हो बैठें। ये दोष भी हृदय की स्वच्छता में, झरने की तरह अपने-आप बहने वाले शुद्ध व्यक्तित्व को बरबाद न कर सकेंगे, हाँ इनसे जीवन के झरने की गति को हम कुछ दिनों गंदला और सड़ा हुआ अवश्य कर देंगे। और समय के साथ आने वाली नई धाराएँ इस गंदगी को अवश्य धो बहाएँगी। यदि हम स्वयं उस गन्दगी को अधिक दिनों रोके रहने का यत्न करें, तो

भी खुले हृदय में हम उसी तरह नुकसान उठाने के लिए बे-काबू हैं। हम सन्निकट स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही हृदय का दिवाला काढ़ते हैं, और इस प्रयत्न में हम अपनी और अपने सन्निकट स्वार्थ की कब्र बनाते हैं।

शासन मे हम 'जानकार मन' का मूल्य कूतकर, उसको बलवान मानकर, उसी को व्यक्तित्व मानकर गर्व करने लगते हैं। परन्तु विश्व मे व्यक्तित्व ही जानकारों के कुम्भीपाक बने हुए हैं। शासन में व्यक्तित्व, शुद्ध व्यक्तित्व ही सफल होता है। श्रम, सेवा, स्नेह और आकर्षण विश्व जीतने के ये गुण--खुले हृदय के व्यक्तित्व मे ये सब होते हैं, सूचनाओं की संग्रहीत पिटारी में नहीं। व्यक्तित्व है, तो यह सब संग्रह-खजाना है, व्यक्तित्व के अभाव मे यह सारा मिट्टी-पत्थरों का ढेर है। सूचनाएँ पैसे से ख़रीदी जा सकती हैं, किन्तु हृदय यानी व्यक्तित्व पैसे से नहीं ख़रीदा जा सकता। हाँ, व्यक्तित्व भी व्यक्तित्व के हृदयों के संघर्षण से बढ़ता है।

अच्छी आदतों से व्यक्ति बनता है, ठीक है। किन्तु उन्हीं अच्छी आदतों से बाहरी और भीतरी जीवन के मेल मिलाये रहें, यही मेल मनुष्य के जीवन मे आकर्षण, प्रकाश और विश्वास पैदा करता है। हृदय की सरसता, अपने संचित ज्ञान और श्रम को लेकर जब विश्व बनाने बैठती है, तब वह व्यक्तित्व का निर्माण करती जाती है और व्यक्तित्व पर मरकर अमर हो जाने वाली दुनिया का भी।

• १० •

मनुष्यत्व क्या है ?

(बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय)

मनुष्य इस बात को अभी तक नहीं समझ सका कि मनुष्य-जन्म लेकर क्या करना होगा ? अनेक लोग ऐसे है जो जगत् मे धर्मात्मा कहकर अपना परिचय देते है। वे मुख से कहा करते है कि परलोक के लिए पुण्य-संचय ही मनुष्य के इस जन्म का उद्देश्य है। किन्तु अधिकांश लोग, चाहे मुँह से भले ही यह बात कहते हों, पर उनके कार्य इसके अनुसार नहीं होते। बहुत लोग तो परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि परलोक का विषय सर्ववादिसम्मत है और इस बात को सब लोग स्वीकार करते है कि परलोक के लिए पुण्य-संचय ही इस जन्म का उद्देश्य है, तथापि इस विषय मे विशेष मतभेद है कि पुण्य क्या है ? केवल बंगदेश मे ही एक संप्रदाय के मत से मद्य-पान से परलोक बिगड़ता है और दूसरे सम्प्रदाय के मत से मद्य-पान परलोक के वास्ते परम कार्य है। तथापि दोनों सम्प्रदायों के लोग बंगाली और हिन्दू है। यदि सचमुच परलोक के लिए पुण्य-संचय ही मनुष्य-जन्म का प्रधान कार्य मान लिया जाय तो अभी तक इस बात का कुछ निश्चय ही नहीं हुआ कि वह पुण्य क्या है और किस प्रकार उसका उपार्जन किया जाता है।

अच्छा मान लो, यह भी निश्चित हो गया है। मान लो, ब्राह्मण-भक्ति, गंगा-स्नान, तुलसी की माला और हरिनाम-कीर्तन इत्यादि पुण्य-कार्य है। ये ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य है। अथवा मान लो कि

रविवार को काम न करना, गिरजे मे बैठकर आँखें मूँदना और खीष्ट-धर्म के सिवा दूसरे धर्म से विद्वेष ही पुण्य-कर्म है । इनको भी जाने दो। दान, दया, सत्य-निष्ठा आदि को सभी लोग पुण्य-कार्य मानते है । किन्तु तथापि यह नहीं दीख पड़ता कि दान, दया, सत्य-निष्ठा आदि को अधिक लोग अपने जीवन का उद्देश्य समझने का अभ्यास रखते हों और उन्हें सिद्ध करते हों । अतएव इस बात को सभी लोग स्वीकार नहीं करते कि पुण्य ही जीवन का उद्देश्य है । जहाँ यह बात सर्वस्वीकृत है वहाँ वह विश्वास केवल जबानी जमा-खर्च-भर है ।

वास्तव मे अगर देखा जाय तो जीवन के उद्देश्य के तत्त्व की मीमांसा को लेकर मनुष्य-लोक मे इस समय भी बड़ी गड़बड़ मची हुई है । लाखों वर्ष पहले, अनन्त समुद्र के गहरे जल के भीतर जो अणुवीक्षण से दीख पड़ने वाले जीव रहते थे उनके देह-तत्त्व को लेकर तो मनुष्य विशेष व्यस्त दीख पड़ते हैं; परन्तु इस बात के निर्णय की विशेष चेष्टा नहीं दीख पड़ती कि इस संसार मे उन्हें खुद क्या करना चाहिए । बहुत लोग किसी तरह अपना पेट पालकर, अन्यान्य बाह्य इन्द्रियों को चरितार्थ करके आत्मीय-स्वजनों का भी पेट पाल सकने को ही मनुष्य-जन्म की सफलता समझते है । इसके सिवा किसी तरह औरों पर प्रधानता प्राप्त करना भी एक उद्देश्य दीख पड़ता है । पेट-पालन के उपरान्त, धन से हो या किसी अन्य-प्रकार से हो, लोगों मे यथासाध्य प्रधानता प्राप्त करने को अपने जीवन का उद्देश्य समझकर लोग काम करते है । लोगों की समझ में यह प्रधानता प्राप्त करने का उपाय धन, राज-पद और यश की प्राप्ति ही है । अतएव, मुख से चाहे कोई न कहे किन्तु कार्य द्वारा धन, पद और यश की प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का सर्ववादिसम्मत उद्देश्य जान पड़ता है । इन्हीं तीनों के समवाय को समाज में सम्पत्ति कहते है । तीनों बातों का एकत्र होना दुर्लभ है, इसलिए दो-एक—खासकर धन—होने से भी उसे सम्पत्ति मान लेते है । इस सम्पत्ति की आकांक्षा ही समाज मे जीवन का मुख्य उद्देश्य समझी जाती है और

यही समाज के घोरतर अनिष्ट का कारण भी है। समाज की उन्नति की गति धीमी होने का प्रधान कारण यही है कि धीरे-धीरे बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य बनती जाती है। केवल साधारण मनुष्यों के खयाल मे नहीं, यूरोप के प्रधान पण्डितों और राजपुरुषों के खयाल में भी यह बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य है।

शायद ही कभी कभी बीच में ऐसा कोई संसार में उत्पन्न हो जाता है कि वह बाह्य सम्पत्ति को मनुष्य-जीवन का उद्देश्य समझना कैसा, उसे जीवन के उद्देश्य की सिद्धि का प्रधान विघ्न समझकर दल से अलग हो जाता है। जिस राज्य-सम्पत्ति को अन्य लोग जीवन की सफलता की सामग्री समझते हैं उसी को विघ्न समझकर शाक्यसिंह ने लात मार दी। भारत और यूरोप में भी ऐसे मुनिवृत्तिधारी अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने बाह्य सम्पत्ति से इतनी घृणा दिखाई है। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि इन्होंने ही असली और यथार्थ मार्ग का अवलम्बन किया। शाक्यसिंह ने यह शिक्षा दी कि इस लोक मे व्यापारों मे मन लगाना ही अनिष्ट का कारण है—मनुष्य सर्वत्यागी होकर निर्वाण की कामना करे। भारत मे इस शिक्षा का फल विषमय हुआ है। मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार भी अनेक मुनिवृत्ति के महापुरुषों की भ्रान्त धारणा होने के कारण वे ऐहिक सम्पत्ति के प्रति विरक्त होकर भी समाज का इष्ट करने मे विशेष कृतकार्य नहीं हो सके। साधारणतः संन्यासी आदि सर्वदेशीय वैरागी सम्प्रदाय को उदाहरण के तौर पर निर्दिष्ट करने से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि धन-संचय आदि की तरह सुख-शून्य, शुभफल-शून्य, महत्त्व-शून्य कार्य प्रयोजनीय होने पर भी कभी मनुष्य-जीवन का उद्देश्य कहकर स्वीकृत नहीं हो सकते। यह जन्म भविष्य के पारलौकिक जीवन के लिए परीक्षा-मात्र है। पृथ्वी-तल स्वर्ग-लाभ के लिए कर्म-भूमि-मात्र है। यह बात यदि यथार्थ हो तो परलोक में सुख देने वाले कार्य का अनुष्ठान ही जीवन का उद्देश्य होना उचित है। किन्तु पहले तो वैसे कार्य कौन हैं,

इसी विषय में मतभेद है—निश्चित करने का बिलकुल कोई उपाय नहीं है और दूसरे परलोक के अस्तित्व का ही कोई प्रमाण नहीं है।

तीसरे परलोक के रहने पर भी—यह पृथिवी-परीक्षा भूमिमात्र होने पर भी—ऐहिक और पारलौकिक भलाई मे विभिन्नता होने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता। यदि परलोक है तो जिस व्यवहार से परलोक मे भलाई होने की सम्भावना है उसी कार्य से इस लोक मे भी भलाई होने की सम्भावना है। इस लोक मे उसी से भलाई होने की सम्भावना न होने का कारण अब तक कोई बतला नहीं सका। धर्म का आचरण यदि मंगल का कारण हो तो यह बात किस तरह प्रमाणित होती है कि वह केवल परलोक मे ही मंगलप्रद है, इस लोक मे नहीं। ईश्वर स्वर्ग मे बैठकर काज़ी की तरह विचार करते हैं—पापी को नरक-कुण्ड मे डालते है और पुण्यात्मा को स्वर्ग भेजते है। इन प्राचीन मनोरंजक दन्तकथाओं को प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो लोग कहते है कि इस लोक में अधार्मिक की भलाई और धर्मात्मा की बुराई होती देखी जाती है, उनकी दृष्टि मे केवल धन-सम्पत्ति आदि ही शुभ या भलाई है। उनका विचार इस मूल में ही होने वाली भ्रान्ति से दूषित है। यदि पुण्य-कर्म परलोक मे शुभप्रद है तो वह इस लोक मे भी शुभप्रद होगा। किन्तु वास्तव मे केवल पुण्य-कर्म क्या इस लोक मे और क्या परलोक में शुभप्रद नहीं हो सकता? जिस प्रकार की मनोवृत्ति का फल पुण्य-कर्म है उसी का दोनों लोकों में शुभप्रद होना सम्भव है। कोई यदि केवल मजिस्ट्रेट साहब की प्रेरणा के वशीभूत होकर, या यश की लालसा से, अप्रसन्न चित्त से दुर्भिक्ष-निवारण के लिए लाखों रुपये देता है तो वह उससे परलोक के लिए पुण्य-संचय कैसे कर सकता है? दान पुण्य-कर्म अवश्य है। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे दान से परलोक का कुछ उपकार होगा। किन्तु जो अर्थाभाव के कारण दान नहीं कर सका, किन्तु दान न कर सकने के कारण खिन्न है उसका इस लोक मे और परलोक अगर हो तो वहाँ भी सुखी होना सम्भव है।

अतएव मनोवृत्तियों के जिस अवस्था मे परिणत होने से पुण्यकर्म उसके फल के रूप मे आप ही निष्पन्न होता है, अगर हो तो वही परलोक में भी शुभप्रद है। यह बात मानी जा सकती है। परलोक हो चाहे न हो, इस लोक मे वही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। किन्तु केवल वह अवस्था ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकती। जैसे कुछ मानसिक वृत्तियों की चेष्टा कर्म है और जैसे उन वृत्तियों के अच्छी तरह परिमार्जित और उन्नत होने से स्वभावतः शुभ कर्म के करने की प्रवृत्ति होती है वैसे ही और भी कुछ वृत्तियाँ है। उनका उद्देश्य किसी तरह का कार्य नहीं है—ज्ञान ही उनकी क्रिया है। कार्यकारिणी वृत्तियों का अनुशीलन जैसे मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है वैसे ही ज्ञानोपार्जन की वृत्तियों का अनुशीलन जीवन का उद्देश्य होना उचित है। वास्तव मे अगर देखा जाय तो दीख पड़ेगा कि सब प्रकार की मानसिक वृत्तियों का सम्यक् अनुशीलन, सम्पूर्ण स्फूर्ति, यथोचित उन्नति और विशुद्धि ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है।

यह बात नहीं है कि ऐसे मनुष्यों ने जगत् मे जन्म ही न लिया हो जिन्होंने केवल इसी उद्देश्य का अवलम्बन करके, सम्पत्ति आदि को उपयुक्त घृणा दिखाकर अपना जीवन बिताया हो। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होने पर भी उनके जीवन-चरित्र मनुष्यों को अमूल्य शिक्षा दे सकते है। जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में ऐसी शिक्षा और किसी तरह नहीं मिल सकती। नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सबकी अपेक्षा यही प्रधान शिक्षा है। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों के जीवन के गूढ़ तत्त्व अपरिज्ञेय है। केवल दो आदमी आप अपना जीवन-चरित्र लिखकर रख गए है—एक गेटे और दूसरे जॉन स्टुअर्ट मिल।

• ११ •

कर्तव्य क्या है

(स्वामी विवेकानन्द)

कर्मयोग का तत्त्व समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि कर्तव्य क्या है। यदि मुझे कोई काम करना है तो पहले मुझे यह समझ लेना चाहिए कि यह मेरा कर्तव्य है और तभी मैं उसे कर सकता हूँ। भिन्न-भिन्न जातियों में कर्तव्य के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। एक मुसलमान कहता है कि जो-कुछ 'कुरान शरीफ' में लिखा है वही उसका कर्तव्य है; इसी प्रकार हिन्दू की दृष्टि मे जो-कुछ उसके वेदों में लिखा है वह उसका कर्तव्य है तथा एक ईसाई की दृष्टि में जो-कुछ उसकी 'बाइबिल' में लिखा है। हम देखते है कि जीवन की अवस्था, काल तथा जातियों की विभिन्नता के अनुसार कर्तव्य के सम्बन्ध में भी विभिन्न धारणाएँ होती है। अन्यान्य सार्वभौमिक भावसूचक शब्दों की तरह कर्तव्य शब्द की ठीक-ठीक व्याख्या करना भी कठिन है। कर्म-जीवन में उसकी परिणति तथा उसके फलाफलों द्वारा हमे उसके सम्बन्ध मे कुछ धारणा हो सकती है।

जब हमारे सामने कुछ बाते घटती है तो हममे उनके बारे में एक विशेष रूप से कार्य करने की स्वाभाविक अथवा पूर्वसंस्कारानुयायी प्रवृत्ति होती है, और जब यह प्रवृत्ति होती है तो मन उस घटना के सम्बन्ध मे सोचने लगता है। कभी तो वह यह सोचता है कि इस विशेष अवस्था मे इस विशेष भाव से ही कार्य करना उचित है, परन्तु किसी

अन्य समय उसे यह लगता है कि उसी अवस्था में वैसे ही भाव से कार्य करना अनुचित है। कर्तव्य के सम्बन्ध में बहुधा यही धारणा होती है कि सच्चरित्र मनुष्य अपनी सत्-असत् बुद्धि की प्रेरणा के अनुसार ही कर्म करता रहता है। परन्तु वह क्या है जिससे एक कर्म कर्तव्य हो जाता है? जीवन-मरण-समस्या के समय यदि एक ईसाई के सामने एक गोमांस का टुकड़ा है और वह अपनी प्राण-रक्षा के लिए उसको नहीं खा लेता अथवा किसी दूसरे मनुष्य के प्राण बचाने के लिए उसे नहीं दे देता तो उसे निश्चय ही यह अनुभव होगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। परन्तु इसी अवस्था में यदि एक हिन्दू स्वयं वह गोमांस का टुकड़ा खा ले अथवा किसी दूसरे हिन्दू को दे दे तो निश्चय ही उसे भी उतने ही अंश मे यह अनुभव होगा कि उसने भी अपना कर्तव्य नहीं किया। हिन्दू-जाति की शिक्षा तथा संस्कार ही ऐसे है जिनके कारण वह ऐसा सोचता है।

पिछली शताब्दी मे भारतवर्ष में डाकुओं का एक मशहूर दल था जिन्हें ठग कहते थे। वे किसी मनुष्य को मार डालना तथा उसका धन छीन लेना अपना कर्तव्य समझते थे। वे जितने अधिक मनुष्यों को मारते थे उतना ही अपने को श्रेष्ठ समझते थे। साधारणतया यदि एक मनुष्य सड़क पर जाकर किसी दूसरे मनुष्य को मार डालता है तो निश्चय ही उसे यह सोचकर दुःख होगा कि कर्तव्य-भ्रष्ट होकर उसने अनुचित कार्य कर डाला है। परन्तु यदि वही मनुष्य एक फौज मे सिपाही की हैसियत से एक नहीं बल्कि बीसों आदमियों को भी मारे तो निश्चय ही उसे यह सोचकर प्रसन्नता होगी कि उसने अपना कर्तव्य बहुत सुन्दरता से निबाहा। इस प्रकार हमे यह स्पष्ट होता है कि केवल किसी कार्य-विशेष का विचार करने से ही हमारा कर्तव्य निर्धारित नहीं होता।

अतएव केवल बाह्य कार्यों के आधार पर कर्तव्य की व्याख्या करना नितान्त असम्भव है। अमुक कार्य कर्तव्य है तथा अमुक अकर्तव्य—कर्तव्याकर्तव्य का इस प्रकार विभाग-निर्देश नहीं किया जा सकता।

परन्तु फिर भी कर्तव्य की व्याख्या आन्तरिक दृष्टिकोण (Inner Look out) से हो सकती है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ सकते हैं तो वह सत् कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है, परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं वह बुरा है तथा वह हमारा कर्तव्य नहीं है। आन्तरिक दृष्टिकोण से देखने पर हमें यह प्रतीत होता है कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो हमें उन्नत बनाते हैं, परन्तु दूसरे ऐसे होते हैं जो हमें नीचे ले जाते हैं तथा पशुवत् बनाते हैं। परन्तु निश्चित रूप से यह जान लेना सरल नहीं है कि कौनसे कार्य सब प्रकार के मनुष्यों के प्रति सब दशाओं में कैसे भाव उत्पन्न करेंगे। कर्तव्य का वह भाव, जो समस्त देश, सम्प्रदाय तथा काल में समस्त मनुष्य-जाति द्वारा सर्वदा मान्य रहा है, केवल एक ही है और वह इस प्रकार वर्णित है—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।' अर्थात् परोपकार से पुण्य होता है तथा दूसरों को दुःख पहुँचाना ही पाप है।

श्रीमद्भगवद्गीता में जन्मगत तथा अवस्थागत कर्तव्यों का बारम्बार वर्णन है। हमने जिस समाज में जन्म लिया है तथा जीवन में हमारा जो स्थान है उसी पर अधिकांशतः यह निर्भर रहता है कि हम जीवन के विभिन्न कर्तव्यों की ओर किस दृष्टिकोण से देखते हैं। इसीलिए हमारी सामाजिक अवस्था के अनुरूप एवं हृदय तथा मन को उन्नत बनाने वाले कार्यों का करना ही हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि एक ही प्रकार के आदर्श तथा कार्य-प्रणाली प्रत्येक देश तथा समाज में नहीं पाई जातीं और इस विषय में हमारी अज्ञता ही एक-दूसरे के प्रति घृणा का मुख्य कारण है। एक अमरीका-निवासी यह समझता है कि उसके देश की रस्में ही सर्वोत्कृष्ट हैं, अतएव जो कोई उसकी रस्मों के अनुसार बर्ताव नहीं करता वह दुष्ट है। इसी प्रकार एक हिन्दू सोचता है कि उसी के रस्म-रिवाज़ संसार-भर में ठीक तथा सर्वोत्तम है और जो उनका पालन नहीं करता वह महा दुष्ट पुरुष है। असल में यह हमारी एक बहुत स्वाभाविक भूल है। परन्तु यह बहुत

अहितकर है; संसार में परस्पर सहानुभूति के अभाव तथा पारस्परिक घृणा का यही मुख्य कारण है। मुझे स्मरण है कि जब मैं इस देश में आया और जब मैं शिकागो-सम्मेलन के बीच से जा रहा था तो किसी आदमी ने पीछे से मेरा साफा खींच लिया। मैंने पीछे घूमकर देखा तो अच्छे कपड़े पहने हुए एक सज्जन दिखाई दिए। मैंने उनसे बातचीत की और जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूँ तो वह बहुत शरमिन्दा हुए। इसी प्रकार उसी सम्मेलन में एक दूसरे अवसर पर एक मनुष्य ने मुझे धक्का दे दिया; पीछे घूमकर जब मैंने उससे कारण पूछा तो वह भी बहुत लज्जित हुआ और हकलाते हुए यह कहकर मुझसे माफ़ी माँगने लगा कि 'आप ऐसी पोशाक क्यों पहनते हैं ?' स्पष्ट है कि इन लोगों की सहानुभूति अपनी ही भाषा तथा वेशभूषा तक सीमित थी। सम्भव है वह मनुष्य, जिसने मुझसे पोशाक के बारे में पूछा था तथा जो मेरे साथ मेरी पोशाक के कारण ही दुर्व्यवहार करना चाहता था, एक भला आदमी रहा हो, एक सन्तान-वत्सल पिता तथा सभ्य-नागरिक हो, परन्तु उसकी स्वाभाविक सहृदयता का अन्त बस उसी समय हो गया जब उसने मुझ जैसे एक व्यक्ति को दूसरे वेश में देखा। अजनबी लोगों पर दूसरे देशों मे अत्याचार होते ही है, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि नवीन परदेश मे अपने को कैसे बचाना चाहिए और इस प्रकार वे उन देशों के प्रति अपने देश मे बुरी भावनाएँ साथ ले जाते हैं। मल्लाह, सिपाही, व्यापारी सभी दूसरे देशों में बड़ा विचित्र व्यवहार करते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि अपने देश मे उस प्रकार का व्यवहार करना वे स्वप्न मे भी नहीं सोचेंगे और शायद यह कारण है जिससे कि चीन-निवासी समस्त यूरोपियन तथा अमरीकन लोगों को 'विदेशी भूत' कहते है। परन्तु यदि उन्हें पश्चिमी देश की सज्जनता तथा उसकी नम्रता का अनुभव हुआ होता तो वे शायद ऐसा न कहते।

अतएव हमें एक बात जो विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि हम दूसरे के कर्तव्यों को उसी की दृष्टि से देखें, न कि

यह कि हम दूसरों के रीति-रिवाज को अपने रीति-रिवाज के मापदण्ड से जाँचे। यह हमें विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि समस्त संसार हमारी धारणा के अनुसार नहीं चल सकता, वरन् हमे ही संसार के साथ मिल-जुलकर चलना होगा; सारा संसार कभी भी हमारे भाव के अनुकूल नहीं चल सकता। इस प्रकार हम देखते है कि देश-काल एवं पात्र के अनुसार हमारे कर्तव्य भी कैसे बदल जाते है और सबसे उत्तम बात तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य हो उसी को हम भली भाँति निबाहें। पहले तो हमें जन्म-प्राप्त कर्तव्य करना चाहिए और उसे कर चुकने के बाद वह करना चाहिए जो हमारे 'पद' के अनुसार हो।

यहाँ एक बात विचारणीय है और वह यह कि मानव-स्वभाव में एक दोष यह है कि वह स्वयं अपनी जाँच कभी नहीं करता। मनुष्य तो यह सोचता है कि वह राजा के सिंहासन पर भी बैठने के योग्य है और यदि मान लिया जाय कि वह है भी, तो सबसे पहले उसे यह दिखा देना चाहिए कि वह अपने पद का कर्तव्य भली भाँति कर चुका है। और तब उसके सामने उच्चतर कर्तव्य आएँगे। जब संसार में हम लगन से काम शुरू करते है तो प्रकृति हमे चारों ओर से धक्के देती है और शीघ्र ही हमे इस योग्य बना देती है कि हम अपना वास्तविक पद निर्धारित कर सके। कोई मनुष्य उस पद पर बहुत दिनों तक नहीं टिक सकता जिसके योग्य वह नहीं है। अतएव प्रकृति हमारे लिए जिस कर्तव्य का विधान करती है उसका विरोध करना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करता है तो वह छोटा नहीं कहा जा सकता। केवल कर्तव्य के स्वरूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नहीं, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्तव्य किस भाव से करता है।

बाद मे हम देखते है कि यह कर्तव्य की धारणा भी परिवर्तित हो जाती है तथा हम यह भी देखते है कि सबसे श्रेष्ठ कार्य उसी समय

होता है जब उसके पीछे किसी प्रकार के स्वार्थ की प्रेरणा न हो। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्तव्य-ज्ञान से किया हुआ कर्म ही हमें कर्तव्य-ज्ञानातीत कर्म की ओर ले जाता है—तब कर्म उपासना रूप में परिणत हो जाता है, इतना ही नहीं वरन् उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है। फिर हमें प्रतीत होगा कि कर्तव्य, चाहे वह नीति पर अधिष्ठित हो अथवा प्रेम पर, उसका उद्देश्य वही है जो अन्य किसी योग का; अर्थात् 'कच्चे मैं' को क्रमशः घटाते-घटाते बिलकुल नष्ट कर देना जिससे अन्त मे 'पक्के मैं' अपनी असली महिमा मे प्रकाशित हो जाय तथा अपनी शक्तियों का निम्न स्तर में क्षय होने से रोकना, जिससे आत्मा अधिकाधिक उच्च भूमि मे प्रकाशमान हो सके। नीच वासनाओं के उदय होने पर भी यदि हम उन्हें अमल मे लाने से अपने को रोक लेते हैं तो उसी से हमारी आत्मा की महिमा का विकास होता है। कर्तव्य-पालन मे इस स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता अनिवार्य है। इस प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञानवश सारी समाज-संस्था संगठित हुई है और वह मानो एक कार्य-क्षेत्र बन गई है जो सत्-असत् की एक परीक्षा-भूमि है। इस कार्य-क्षेत्र मे स्वार्थपूर्ण वासनाओं को धीरे-धीरे कम करते हुए हम मनुष्य के प्रकृत स्वरूप के अनन्त विकास का पथ खोल देते हैं।

कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हल्का तथा आसानी से चलता है जब उसके पहियों में प्रेम-रूपी चिकनाई लगी होती है, नहीं तो यह निरन्तर एक घर्षण-सा ही रहता है। और यदि ऐसा न हो तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी स्त्री के प्रति तथा स्त्री अपने पति के प्रति अपना-अपना कर्तव्य कैसे कर सकें? क्या इस घर्षण के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में सदैव नहीं दिखाई देते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम मे ही है और प्रेम का विकास केवल स्वतन्त्रता मे होता है। परन्तु सोचो तो सही, क्या इन्द्रियों का, क्रोध का, ईर्ष्या

का तथा मनुष्य के जीवन मे होने वाली अन्य सैकड़ों क्षुद्र भावनाओं का गुलाम होकर रहना स्वतन्त्रता है ? हमारे जीवन में इन सब क्षुद्र संघर्षों के बीच स्वतन्त्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है—सहिष्णुता। स्त्रियाँ स्वयं अपने चिड़चिड़े तथा ईर्ष्यायुक्त स्वभाव की गुलाम होती हुई भी अपने पतियों को ही दोष देती हैं। वे दावा करती हैं कि हम स्वाधीन हैं; परन्तु वे नहीं जानतीं कि ऐसा करने से वे स्वयं को निरी गुलाम ही सिद्ध कर रही हैं। और यही हाल उन पतियों का भी है जो सदैव अपनी स्त्रियों मे दोष देखा करते हैं।

पावित्र्य ही स्त्री तथा पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। और ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष, वह चाहे जितना भी पथ-भ्रष्ट क्यों न हो गया हो, अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अभी उतना नहीं गिरा है। हम बहुधा संसार में बहुत से निर्दय पतियों के सम्बन्ध मे तथा पुरुषों के भ्रष्टाचरण के बारे मे सुनते रहते हैं। परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि संसार मे उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी हैं ?

यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध तथा पवित्र हों जैसा कि वे दावा करती हैं तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी अपवित्र मनुष्य न रह जायगा। ऐसा पाशविक भाव कौन है जिसे पावित्र्य तथा सतीत्व पराजित नहीं कर सकता ? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषों को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे-धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति मे इतनी उन्नत हो जायगी कि पाशविक प्रवृत्ति वाला ऐसा एक भी मनुष्य न होगा जो उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव न कर सके। इसी प्रकार प्रत्येक पति को अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता, बहन अथवा पुत्रीवत् देखना चाहिए—विशेषकर उस मनुष्य को जो धर्म का प्रचारक होना चाहता है। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और सदैव उसी

प्रकार का उसके साथ व्यवहार करे।

मातृ-पद ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यही एक ऐसा पद है जहाँ अधिक-से-अधिक निःस्वार्थता की शिक्षा प्राप्त हो सकती है तथा उसका अभ्यास हो सकता है। केवल भगवत्प्रेम ही माता के प्रेम से उच्च है, अन्य सब तो निम्न श्रेणी के हैं। माता का कर्तव्य है कि पहले वह अपने बच्चों का सोचे और फिर अपना; परन्तु उसके बजाय यदि माता-पिता सर्वदा पहले अपने ही बारे मे सोचे तो फल यह होगा कि उनमे तथा उनके बच्चों मे वही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जो चिड़ियों तथा उनके बच्चों मे होता है। चिड़ियों के बच्चे जब उड़ने योग्य हो जाते हैं तो अपने माँ-बाप को पहचानते तक नहीं। वास्तव में वह पुरुष धन्य है जो स्त्री को ईश्वर के मातृ-भाव की प्रतिमूर्ति समझता है और वह स्त्री भी धन्य है जो पुरुष को ईश्वर के पितृ-भाव की प्रतिमूर्ति मानती है तथा वे बच्चे भी धन्य हैं जो अपने माता-पिता को भगवान् का ही एक रूप मानते हैं।

हमारी उन्नति का एकमात्र उपाय यह है कि हम पहले वह कर्तव्य करें जो हमारे हाथ में है और इस प्रकार धीरे-धीरे शक्ति-संचय करते हुए क्रमशः हम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

एक दृष्टान्त है कि एक तरुण संन्यासी वन को गया। वहाँ उसने बहुत समय तक ध्यान-भजन तथा योगाभ्यास किया। अनेक वर्षों की कठिन तपस्या के बाद एक दिन जब वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था तो उसके ऊपर वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ गिर पड़ीं। उसने अपनी निगाह ऊपर उठाकर देखा कि एक कौआ और बगुला पेड़ पर लड़ रहे हैं। यह देखकर संन्यासी को बहुत क्रोध आया और उसने कहा, "यह क्या ? तुम्हारा इतना साहस कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर फेंको ?" इन शब्दों के साथ संन्यासी की क्रुद्ध आँखों से आग की ज्वाला-सी निकली, क्योंकि संन्यासी में इतनी शक्ति थी, और उस ज्वाला से वे बेचारी दोनों चिड़ियाँ भस्म हो गईं। अपनी यह शक्ति जानकर वह संन्यासी बड़ा

खुश हुआ, क्योंकि उसने सोचा कि वह तो केवल एक दृष्टि से ही एक कौए तथा बगुले को भस्म कर सकता है। कुछ समय बाद भिक्षाटन करने के लिए वह एक गाँव को गया। गाँव में जाकर वह एक दरवाजे पर खड़ा हुआ और उसने पुकारा, "माँ, मुझे भिक्षा दो।" घर के भीतर से आवाज़ आई, "मेरे बेटे, थोड़ा रुको।" संन्यासी ने मन में सोचा, 'यह कैसी दुष्ट स्त्री है ? इसमें इतना साहस कि वह मुझसे प्रतीक्षा कराए ? शायद वह मेरी शक्ति अभी जानती नहीं।' संन्यासी जैसे यह विचार कर ही रहा था कि भीतर से फिर एक आवाज़ आई, "बेटा, अपने को बहुत बड़ा मत समझो। यहाँ न तो कोई कौआ है और न बगुला ही।" यह सुनकर संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह थोड़ी देर खड़ा रहा। अन्त में घर में से एक स्त्री निकली और उसे देखकर संन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला, "माँ, तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ ?" स्त्री ने उत्तर दिया, "बेटा, न तो मैं तुम्हारा योग जानती हूँ और न तुम्हारी तपस्या। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुम्हें इसी-लिए थोड़ी देर रोका था कि मेरे पतिदेव बीमार हैं और मैं उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न थी। यही मेरा कर्तव्य है। तमाम जीवन मैं इसी बात का यत्न करती रही हूँ कि मैं अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहूँ। जब मैं अविवाहित थी तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति कन्या का कर्तव्य किया और अब जब मेरा विवाह हो गया है, तो मैं अपने पतिदेव के प्रति पत्नी का कर्तव्य करती हूँ। बस यही मेरा योगाभ्यास है। परन्तु यह मैं कह देना चाहती हूँ कि अपना कर्तव्य करने से ही मेरे दिव्य चक्षु खुल गए हैं, जिससे मैंने तुम्हारे विचारों को जान लिया और मुझे इस बात का भी पता चल गया कि तुमने वन में क्या किया है। यदि तुम्हें इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानने की इच्छा है, तो अमुक नगर के बाज़ार में जाओ जहाँ तुम्हें एक व्याध मिलेगा। वह तुम्हें कुछ ऐसी बातें बतलाएगा जिन्हें सुनकर तुम बड़े प्रसन्न होंगे।" संन्यासी ने विचार किया, 'भला मैं उस शहर में व्याध के पास क्यों जाऊँ ?' परन्तु

फिर भी उसने उस स्त्री के पास जो-कुछ देखा था उसे सोचकर उसकी आँखें खुल गई थीं। इसीलिए वह उस शहर में गया। जब वह शहर के नज़दीक आया तो उसने दूर से एक बड़े मोटे व्याध को बाज़ार में बैठे हुए और बड़े-बड़े छुरों से मांस काटते हुए देखा। वह अनेक लोगों से अपना सौदा कर रहा था। संन्यासी ने सोचा, 'हे ईश्वर, यह क्या है? क्या यही वह व्यक्ति है जिससे मुझे शिक्षा मिलेगी? देखता हूँ, यह तो शैतान का अवतार है।' इतने में व्याध ने संन्यासी की ओर देखा और कहा, "हे महाराज, क्या उस स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है? आप कृपया बैठ जाइए। मैं ज़रा अपना काम समाप्त कर लूँ।" संन्यासी ने सोचा, 'यहाँ मुझे क्या मिलेगा?' खैर, वह बैठ गया। इधर व्याध अपना काम लगातार करता रहा और जब वह अपना रोज़गार पूरा कर चुका तो उसने अपने रुपये-पैसे समेटे और तब संन्यासी से कहा, "चलिए महाराज, मेरे घर चलिए।" घर पहुँचकर व्याध ने उन्हें आसन दिया और कहा, "आप यहाँ थोड़ा ठहरिए।" व्याध अपने घर में चला गया। उसने अपने वृद्ध माता-पिता को स्नान कराया और उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो-कुछ कर सकता था, किया। उसके बाद वह संन्यासी जी के पास आया और बोला, "महाराज, आप मेरे पास आये हैं। अब बताइये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?" संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा-सम्बन्धी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तर में व्याध ने उन्हें वह उपदेश दिया जो महाभारत में 'व्याध-गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। व्याध-गीता में हमें वेदान्त-दर्शन की बहुत ही ऊँची बातें मिलती हैं।

जब व्याध अपना उपदेश समाप्त कर चुका, तो संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा, "फिर तुम ऐसे क्यों रहते हो? इतने ज्ञानी होते हुए भी तुम व्याध क्यों हो जो इतना निन्दित तथा कुत्सित कार्य करते हो?" व्याध ने उत्तर दिया, "वत्स, कोई भी कर्तव्य निन्दित नहीं है, कोई भी कर्तव्य अपवित्र नहीं है। मैं जन्म से ही इस परिस्थिति में हूँ, यही मेरा प्रारब्ध-लब्ध कर्म है। बचपन से ही मैंने यह व्यापार

सीखा है, परन्तु इसमें मेरी आसक्ति नहीं है। कर्तव्य के नाते मैं इसे उत्तम रूप से करता हूँ। मैं अपना कर्तव्य गृहस्थ के नाते भी करता हूँ और अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए जो-कुछ मुझसे हो सकता है वह भी करता हूँ। न तो मै तुम्हारा योग जानता हूँ, न मैं कभी संन्यासी हुआ और न मै कभी संसार छोड़कर वन में ही गया। परन्तु फिर भी जो-कुछ तुमने मुझसे सुना तथा देखा वह सब मझे अपने कर्तव्य-पालन से ही प्राप्त हुआ है, जो मेरे पद के अनुरूप है तथा जो मैं अनासक्त भाव से करता हूँ।"

भारतवर्ष में एक बहुत बड़े महात्मा[1] है। अपने जीवन में मैंने जितने बड़े-बड़े महात्मा देखे उनमे से वे एक थे। वे बड़े अद्भुत हैं, कभी किसी को शिक्षा नहीं देते और यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो भी तो वे उसका उत्तर नहीं देते। उनके लिए गुरु का पद ग्रहण करना बड़े संकोच का काम है। वे ऐसा कभी नहीं करेंगे। यदि तुम उनसे एक प्रश्न आज पूछो और उसके बाद कुछ दिन प्रतीक्षा करो तो किसी दिन वे अपनी बातचीत मे उस प्रश्न को उठाकर उस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते है। उन्होंने मुझे एक बार कर्म का रहस्य बताया था। उन्होंने कहा, 'साधन और सिद्धि को एक रूप समझो।' अर्थात् साधना-काल में साधन में ही मन-प्राण अर्पण करके कार्य करो, क्योंकि उसी की चरम अवस्था का नाम सिद्धि है। यदि तुम कोई कर्म कर रहे हो तो फिर अन्य किसी बात का विचार मत करो। उसे उपासना, बड़ी उपासना समझकर करो और उस समय के लिए तो उसमें अपना सारा तन और मन लगा दो। यही हमने उपरोक्त कथा में भी देखा है। व्याध तथा उस स्त्री, दोनों ने अपना कर्तव्य बड़ी प्रसन्नता से तथा तन्मनस्क होकर किया और उसका फल यह हुआ कि उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त

१. पवहारी बाबा एक प्रसिद्ध महात्मा थे। इनका आश्रम गाजीपुर में था। स्वामी विवेकानन्द जी ने इनका एक संक्षिप्त जीवन चरित्र भी लिखा है।

हुआ; इससे हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन की किसी भी अवस्था में बिना कर्म-फल में आसक्ति रखे यदि कर्तव्य उचित रूप से किया जाता है तो उससे हमें परम पद की प्राप्ति होती है।

केवल वही मनुष्य, जो कर्म-फल में आसक्त है, अपने भाग्य में आये हुए कर्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष को सब कर्तव्य एक समान है। उसके लिए तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रिय-परायणता को नष्ट करने के लिए शक्तिशाली साधन हैं; उन्हीं से उसकी आत्मा की मुक्ति होती है। हम अपने कर्तव्य पर जो भिनभिनाते हैं उसका कारण यह है कि हम सब बहुधा अपने तईं बहुत सोचते हैं तथा अपने को बहुत योग्य समझते हैं, यद्यपि हम वैसे नहीं हैं। प्रकृति ही सदैव कड़े नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्म-फल का विधान करती है, उसमें तनिक भी हेर-फेर नहीं हो सकता। और इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हों, फिर भी वास्तव में हमारे कर्म-फल के अनुसार हमारे कर्तव्य निर्दिष्ट होंगे ही। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। असन्तुष्ट तथा तकरारी पुरुष के लिए सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे तो कभी भी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फलस्वरूप उसके जीवन का भारभूत तथा असफल होना स्वाभाविक है। हमें चाहिए कि हम काम करते रहें, जो-कुछ भी हमारा कर्तव्य हो उसे करते रहें। अपना कंधा सदैव काम में लगाए रहें और तभी हमें ज्ञान का प्रकाश निश्चय प्राप्त होगा।

• १२ •

मन की दृढ़ता

(श्री बालकृष्ण भट्ट)

अनेक मानसिक शक्तियों में दृढ़ता भी मन का एक उत्तम धर्म और मनुष्य के प्रशंसनीय गुणों में है। परन्तु इन मानसिक शक्तियों पर कुछ लेख लिखने या उनके सम्बन्ध में कुछ कथोपकथन करने के पहले यह प्रश्न उठता है कि इस कथोपकथन का उद्देश्य क्या है ? यदि यह माना जाय कि कोई-न-कोई मानसिक गुण लोगों में रहता ही है और जो लोग उन गुणों का पूरा आनन्द और लाभ उठा रहे हैं वे उठाते ही होंगे तब आप अपने इस लेख से और क्या अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत यह मान लेने मे कि जितने अच्छे गुण हैं उनके उद्दीपित करने का यही उत्तम उपाय है कि हम उन गुणों की यथोचित मीमांसा करके उनसे जो-जो लाभ हैं उन्हें प्रकट कर दिखाएँ, तब अलबत्ता लेख आदि की आवश्यकता हो सकती है। और कुछ नहीं तो इतना ही सही कि जो लोग उन गुणों के आधार हैं उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने से हम ऐसे लोगों को किञ्चित् भी हर्ष पहुँचा सकेंगे तो हमारे लेख का कुछ कृत्य हुआ और इसी को ध्यान मे रख हम आगे बढ़ते हैं।

गधा पीटकर घोड़ा नहीं हो सकता। जिनमे किसी गुण का लेश नहीं है वे किसी तरह गुणशाली न हो सकेंगे, लोगों के इस कहने को हम किसी-किसी अंश में सत्य मानते हैं। अधिक विद्या की वृद्धि, स्थान-स्थान मे पुस्तकालय, क्लब और सभाएँ तथा अनेक उपकारी विषयों पर वक्तृता,

समाचार-पत्र तथा विविध विद्या-विषयक नित्य नये मासिक-पत्रों का विशेष प्रचार यही सब उपाय है, जिनसे आप लोगों को चालचलन में शुद्ध और सुचरित्र तथा मानसिक शक्तियों में आगे को बढ़े हुए कर सकते हैं। जब ये उपाय आपका प्रयोजन सिद्ध करने को किसी तरह कारगर नहीं हुए और आपके लोग भी वे ही हैं जिन पर कुछ असर नहीं पहुँच सका तो यह आशा ही करना व्यर्थ है कि यत्न और उपाय से जगत् का वह लाभ होगा जो आज तक नहीं हुआ। गधा पीटकर घोड़ा न हो सकेगा ऐसा मानने वालों के मत का खण्डन करना हमारा तात्पर्य नहीं है, किन्तु इसके साथ ही हम यह भी मानते हैं कि बुद्धि का काम मनुष्य को सत्कर्म-सम्बन्धी शिक्षा देने से यही मालूम होता है कि यद्यपि जो बात प्रबल संस्कार के कारण या किसी दूसरे-दूसरे हेतु से दैव ही ने किसी को नहीं दी वह बात हम उसमें न उपजा सकें, तो इतना तो करें कि सदुपदेश की परिणत दशा पर उसकी आँख तो खोल दें अर्थात् उसकी अपेक्षा दस भले लोग और दस बुरे लोगों के साथ उसके चाल-चलन का मिलान करके उसकी भली या बुरी चित्त-वृत्ति का एक अन्दाज़ा तो उसे दे दें। उपरान्त उसे स्वयं अधिकार है चाहे वह अपनी दशा को आगे बढ़ाए अथवा अधःपतन से अपने को नीचे गिराता ही जाय, क्योंकि अब यह कहने वाला तो कोई न रहेगा कि सुधारने के लिए किसी ने कुछ यत्न नहीं किया।

अब तो बुद्धि रूपी लैम्प द्वारा उसने अपनी पहली निविड़ अन्धकार-पूरित अथवा प्रकाश के संस्कार से संस्कृत पिछली दशाओं को देख लिया है, तो इस बात का ज्ञान तो उसे अवश्य ही हो गया है कि हम कहाँ हैं और वे कौन और कैसे लोग हैं जिनसे हम कई दरजे अच्छे हैं अथवा वे कौन हैं जिनके समान हम चेष्टा करने से हो सकते हैं। और यह सब कोई छोटी बात नहीं है, क्योंकि यदि हमसे कोई पूछे कि प्रशंसा का मूल आप किसे कहेंगे तो हम यही उत्तर देंगे कि प्रशंसनीय केवल वे ही हैं जिन्होंने दीर्घ काल के अभ्यास और प्रयत्न से कुछ प्राप्त कर लिया

है। यदि दैव की देन उस पर हुई और सहज ही में कोई अच्छी बात उसे प्राप्त हो गई तो निस्सन्देह यह तो अवश्य ही कहेंगे कि वह गुणी है, पर यह न कहेंगे कि वह मनुष्य प्रशंसनीय है; क्योंकि जैसा हमने अभी कहा प्रशंनीय होने की योग्यता हम केवल असकृत चेष्टा और यत्नों ही पर निर्भर मानते हैं। ईश्वर की देन से स्वभावतः प्राप्त गुणों की अपेक्षा चाहे असकृत चेष्टा और अभ्यास द्वारा प्राप्त गुणों में वैसा तीखापन न हो, पर विचार की गम्भीरता इस प्रकार के गुण में अवश्य विशेष होगी; और यह लाभ किससे कम है। इस बात के स्पष्ट करने को हम कवित्व शक्ति का उदाहरण देते हैं। कवियों को कविता करने की शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है सही, परन्तु निरन्तर अभ्यास से जो कवित्व-शक्ति सम्पादित की जाती है वह भी कुछ कम नहीं, वरन् विचार की गम्भीरता ऐसे ही काव्यों में विशेष पाई जायगी, क्योंकि पहली तरह के काव्य में कवि के हृदय से अपने-आप जो निकलेगा वही रहेगा। पर दूसरे प्रकार के काव्य में खूब सोच-समझ और गढ़-गढ़कर पद रखे जायँगे। कहाँ तक तब वे पद सारगर्भित न होंगे। मम्मट भट्ट की कारिका से भी यह बात सम्यग् व्युत्पादित होती है:

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।"

दण्डी का भी यही मत है:

"न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिमानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवम् करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।"

कहने का प्रयोजन यह है कि नाना प्रकार के गुणों में मनुष्यों की असमता में विधाता का विषम भाव ही कारण है, परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि विधाता की विषमता से जो यह भाँति-भाँति की त्रुटि संसार में दीख पड़ती है उसको पूरा करने वाला सर्वोत्तम प्रधान

कारक अभ्यास ही है :

"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।"

लड़के शिक्षा कैसे ग्रहण करते हैं—इस बात को जिसने कभी सोचा है वह हमारी बात अवश्य मानेगा । बालक जब छोटे-से-छोटे दरजे में रहते हैं तभी से अपनी विशेष रुचि किसी एक मुख्य विषय पर प्रकट करने लगते हैं । किसी विषय में उनकी बुद्धि अधिक धँसती है; किसी बात के सीखने को वे अलसाते और जान छिपाते हैं । कोई-कोई बातों में वह अपनी अरुचि आदि ही से प्रकट करता है । कोई-कोई बात मे शीघ्र उसकी बुद्धि पुष्ट पड़ जाती है । कुछ बातों में बड़े यत्न के उपरान्त भी वह कमज़ोर बना रहता है । किसी को काव्य में बड़ी रुचि है तो गणित के सीखने से दूर भागता है । किसी को दर्शनों ही के अभ्यास में आनन्द मिलता है, काव्य का रस उसके नीरस चित्त में स्थान ही नहीं पाता । किसी की तबियत शिल्प और कारीगरी की ओर अधिक झुकती है । किसी की प्रखर बुद्धि विज्ञान के ज्ञान में अतिशय दौड़ती है । क्यों ऐसा होता है ? इसे यदि पूर्व संस्कार या ईश्वर की देन मानिये तो बहुत कम लोगों का इसमें मतभेद होगा । तब इसके क्या माने ? आप कह सकते हैं कि इस बालक को आरम्भ ही से अच्छी शिक्षा दी गई है अर्थात् इसके यही माने हैं कि जिस बात की ओर इसका झुकाव होता था वे विषय तो उसमें खराद पर चढ़े नगीने की भाँति स्वयं जगमगा रहे थे । जिस बात की ओर से वह आलस्य-भाव धारण कर अरुचि प्रकट करता था, वह कमी भी उसमें भली भाँति सँभाल दी गई । अन्त में परिणाम इस बात का यह हुआ कि उस बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में आप कह सकते है कि इसे अच्छी शिक्षा या पूर्ण शिक्षा दी गई है । अब बतलाइए, इस अच्छे या पूर्ण के क्या माने हैं—केवल यही कि यद्यपि बहुत बातों में स्वभाव ही से वह बालक अच्छा रहा हो, परन्तु उत्तम शिक्षा के प्रभाव से उसके निर्बल अंश भी दूर कर दिये गए और सब विषय में पूर्ण अथवा 'कालाक्षरी' वाक्य उसके लिए उपयुक्त होता है ।

यह हमने केवल एक दृष्टान्त के ढंग पर दिखलाया, जो बात बालकों में देखते है। कोई ऐसी वजह नहीं कि जवानों में वह बात न पाई जाय अर्थात् ईश्वर की देन (Natural Gifts) से जो बात नहीं आई उसे भी अभ्यास (Culture) द्वारा बढ़ाना। भेद इतना ही है कि बालकों को इस बात की आवश्यकता है कि कोई दूसरा अपने सहारे से उन्हें ले चले। पर जवानों को भला कौन सहारा देगा, यदि अपनी मदद वे आप ही न करें। और इसी का नाम हम मन की दृढ़ता रखेंगे। अब देखना चाहिए कि इस मन की दृढ़ता का असर उसी आदमी के खयाल पर किस तरह होता है।

जो लोग यह मानते हैं कि कुछ लोगों का किसी खास बात की तरफ झुकाव इत्तिफाक से है; ऐसी ही बात आ पड़ी हैं कि वह उस बात को चाहने लगता है या अच्छी तरह उस बात को समझता है। इस सबका कारण बिलकुल इत्तिफाक ही है। हमारी जान में ऐसा मानने वालों की बड़ी भूल हैं। आदमी की पसन्द, तबियत, मिज़ाज, खयालात, रुचि और अरुचि इसमें छोटी-से-छोटी या बड़ी-से-बड़ी बातों पर इत्तिफाक का उतना ही असर है जितना इत्तिफाक से पेड़ मे कानी-खोतरी पत्तियाँ या फूल-फल लग सकते हैं। इन्हीं बातों पर सोचने से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कैसे मानसिक दृढ़ता रहने से किसी के खयालात मे वह ज़ोर आता है जिसे देख या सुनकर लोग चमत्कृत होते हैं। जब यह माना गया कि आदमी का मन उसके खयालात के साथ ऐसा नथा है जैसा वृक्ष अपने एक-एक रगो-रेशे से नथा हुआ है तो यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्य के खयालात उसके मन और ज़बान पर वैसे ही हरे-भरे मालूम होंगे जैसे अपने स्थान में जमा हुआ पेड़ हरा-भरा मालूम होता है। क्या यह कभी सम्भव है कि पेड़ को आप उखाड़ डालें? यह भी सम्भव नहीं है कि किसी के अनोखे खयालात उसके मन को छोड़कर कहीं और ठौर तरोताज़गी को पा सके और इसी को हम मानसिक दृढ़ता कहेंगे, जिसका अर्थ अनोखापन भी कहा जाय तो अनुचित

नहीं है।

यहाँ तक हमने इस मानसिक दृढ़ता का एक लक्षण लिखा। इस दृढ़ता को हम हठ न कहेंगे। निस्सन्देह हठ की मजबूती इसमें है, पर एक तरह का अनोखापन जो इस दृढ़ता में पाया जाता है इससे हठ या दुराग्रह के दोष का सम्पर्क भी इससे दूर हटा हुआ है। क्योंकि हठ का शब्द सुनने वाला किसी के बारे में तभी प्रयोग करता है जब उसकी मजबूती का तो वह कायल है पर बात उसकी अप्रिय और अग्राह्य लगती है, जिनको आप मानसिक दृढ़ता के साथ लगा ही नहीं सकते, क्योंकि यदि सुनने वालों को ग्राह्य-अग्राह्य, प्रिय-अप्रिय तय करने की फुरसत मिली तो बोलने वाले की मानसिक शक्ति की प्रशंसा में हम 'दृढ़' का प्रयोग करते होंगे। नहीं, मानसिक दृढ़ता का मुख्य लक्षण या गुण यह है कि वक्ता सुनने वाले का मन अपनी मुट्ठी में कर ले।

इस दृढ़ मन का दूसरे के ऊपर क्या और कैसे असर होता है इसे हमने प्रकट कर दिखलाया। अब पाठकजन इससे यह न समझ लें कि केवल अति दृढ़ मन वालों ही का असर दूसरे पर होता है, यह हमारा तात्पर्य नहीं है। पर यह एक साधारण नियम है कि जब कभी दो चित्त आपस में टक्कर खायेंगे तो एक-दूसरे पर कुछ-न-कुछ असर होगा ही; इसी असर को भली या बुरी सोहबत का असर कहते हैं। सोहबत का असर जरूर होता है, इसको रोकने की सामर्थ्य किसी की नहीं है। यह असम्भव है कि एक चित्त अपना असर दूसरे पर पैदा न करे या वह दूसरा भी उस असर को अपने ऊपर न आने दे; और यह एक ऐसी अनदेखी बात है जिसका रोकना या उसे कुछ अदल-बदलकर ग्रहण करना दोनों की सामर्थ्य से बाहर है। जब यह बात है तो दृढ़ मन वाले अपनी ऊँची समझ और ऊँचे खयालात से कमजोर और दुर्बल चित्त वालों को ऐसा बेकाबू कर डालेंगे जैसा बड़े-से-बड़े नशे का असर किसी को बेकाबू कर देता है। इसलिए दुर्बल चित्त वाले का दृढ़ मन वाले के साथ सम्पर्क कभी उपकारी नहीं है। इस चुपचाप असर पैदा करने की शक्ति

को हम केवल आदमियों ही मे नहीं वरन् जड़ पदार्थों में भी पाते हैं। काठ पत्थर की संगति करके चिरकाल के उपरान्त पत्थर हो जाता है, अंग्रेजी में जिसे फासेल कहते हैं। दो तरह के पत्थर या दो तरह की खान या दो तरह के वृक्ष, जो आस-आस होते हैं, उनका भी बहुत-कुछ असर एक-दूसरे पर होता है। हमने यह भी सुना है कि दो खान, जो आस-पास होती है, उनमें जो खान बड़ी या तीव्र द्रव्य की खान थी उसने छोटे और हल्के द्रव्य वाली खान को ऐसा दबाया कि कुछ दिन के उपरान्त दोनों एक में मिल गई और दोनों एक ही द्रव्य की खान हो गई।

अब आप निश्चय कर सकते हैं कि एक मन का असर दूसरे पर कितना होता है; खासकर उनमें, जब दोनों मे एक अति दृढ़ और दूसरा दुर्बल मन है। अतएव दृढ़ मन यद्यपि उत्तम गुण है पर दूसरों पर उसका असर इतना गुणकारी नहीं मालूम होता और इस दृढ़ मन के साथ सहानुभूति भी हो अर्थात् हर तरह के भले-बुरे, ऊँचे-नीचे, ज्ञानी-अज्ञानी सभी के मन में प्रवेश करने की शक्ति भी हो तो दृढ़ मन मधुकर हो प्रत्येक मन का मधु निकाल-निकालकर लाभ उठाने की शक्ति बढ़ाता ही जायगा और सत्य क्या वस्तु है इसकी पहचान में समर्थ होगा।

• १३ •

विश्वास का चमत्कार

(महात्मा भगवानदीन)

'मैं यह हूँ' की जानकारी का नाम ही विश्वास है। सब धर्मों, दर्शन-शास्त्रों की मंशा ही यही है कि 'मैं क्या हूँ' का हाल बताये। इस दृष्टि से ही दर्शन-शास्त्र दुनिया के अदब मे अपनी जगह बनाते हैं। मन को स्वस्थ बनाए रखने में इसीलिए विश्वास अक्सीर माना जाता है। विश्वास हमें परिचय करा देता है। विश्वासहीन ही नास्तिक नाम पाता है। नास्तिक अनन्त आकाश में बिखरे जड़ परमाणुओं की खोज में लगकर अपनी आत्मा को ठंडा कर डालता है। वह इस ओर भी ध्यान नहीं देता कि इन परमाणुओं का ज्ञान किसकी मदद से हो रहा है। कोई आदमी अपने को पहचाने बिना अपनी जिन्दगी से पूरा लाभ नहीं उठा सकता और न वह उस फर्ज को पूरा कर सकता है जिसके पूरा करने के लिए वह पैदा हुआ है।

आत्माभिमान बनाए रखने के लिए आदमी न मालूम क्या-क्या करता है, और उसे करना भी चाहिए। यह बुरी बात तो है ही नहीं, जरूरी है। अगर किसी आदमी को अपने बारे में यह भी पता चले कि वह एक मामूली आत्मा है, तो भी उसके लिए ऊँचे विचारों में मस्त रहना जरूरी है। ऊँचे विचारों के बल पर ही तो वह अपने 'न-कुछ' से 'बहुत-कुछ' काम ले सकेगा। पत्थर में जिस तरह अच्छी, बुरी, मामूली तीनों तरह की मूर्ति मौजूद रहती है, और वह अच्छे, बुरे, मामूली कला-

कारों के हाथों जाहिर होती है, ठीक इसी तरह हर आत्मा में अच्छे बुरे, मामूली काम करने की काबलियत रहती है, पर वह अच्छे, बुरे, मामूली विश्वास में ही काम में आती है। जिससे जो-कुछ हो जाता है उसकी आत्मा ठीक बताकर अपनी तसल्ली करता है। उसकी जाँचने की कसौटी या तराज़ू वही होती है, जो परिस्थितियों ने उसे बनाकर दे दी है। इसीलिए तो इस बात पर ज़ोर दिया जा रहा है कि विचार हमेशा ऊँचे रखने चाहिएं। ऊँचे विचारों से परिस्थितियों का असर अगर बिलकुल नष्ट नहीं होता तो कम तो हो ही जाता है।

इच्छाएँ सबमें होती हैं और सब उनको पूरा भी करना चाहते हैं। ऊँचे विचार वाले और नीचे विचार वाले में एक ही इच्छा के पूरा करने में अन्तर रहेगा। मान लो, दोनों में लड्डू खाने की इच्छा पैदा हुई। यह भी मान लो कि दोनों के पास पैसा नहीं है। ऐसी हालत में नीचे विचार वाला चोरी करके अपनी इच्छा पूरी करेगा और दूसरा मज़दूरी करके, या साधारण आत्मा है तो भीख माँगकर। भीख माँगना चोरी से नीच काम है या नहीं, इस बात पर दो राय हो सकती हैं; पर यह इस लेख का विषय न होने से छोड़ा जाता है। 'मैं कौन हूँ' यह जानने की इच्छा भी इच्छा है और इसके जवाब भी अलग-अलग कई हो सकते हैं। हर जवाब में जवाब देने वाले के सहारे दर्शन का निचोड़ रहेगा। वह जवाब ही विश्वास बनकर आगे की राह दिखाने में काम आएगा। आदमी के अल्लाह की शक्ल वाला बने होने में इतनी-सी सचाई है, जितनी कि खाक का पुतला होने में। आदमी पंचभूत का भी है और अजर-अमर आत्मा का भी। वह क्या नहीं है? परमात्मा और आत्मा भी। हम कहाँ तक ऊँचे जा सकते हैं, यह अभी तय नहीं हो पाया। आजकल ऊँचे जाने की हद नहीं। सच्चा फिर क्यों न विचार ऊँचे रखे और क्यों न अपनी इच्छाओं को उसी के मुताबिक पूरा किया करे?

अपने को तुच्छ मानकर ऊँचा जीवन बिताने में तुम टोटे में रहोगे। इस तरीके से तुम्हारी नाव किनारे न लग पाएगी, बीच में ही डगमगा

कर भँवर में जा फँसेगी। धर्म या धर्मों में चाहे जितनी ही कमियाँ क्यों न हों, एक ज़बरदस्त गुण भी है और वह अकेला ही सब कमियों की ओर किसी की नज़र नहीं जाने देता। वह गुण है—यह आदमी अजर-अमर आत्मा है, मिट्टी का पुतला नहीं। मनुष्य खुदा का अंश है, हड्डी चमड़े की मशीन नहीं। यह नहीं कि कुछ चीज़ मिलकर जिस्म बन गया और फिर उनमे मन का कल्ला फूट आया और फिर पूरा साहस आने पर आदमी कहलाने लगा। धर्म आदमी की जड़ अनादि-अनन्त में जमा देता है और उसे सदा के लिए सुरक्षित कर देता है। धर्म आदमी में परमात्मा होने का विश्वास करा देता है। सब बड़े-बड़े धर्मों के 'मैं क्या कहूँ' के जवाब सुनकर तबियत फड़क उठती है। तभी तो बचपन से विज्ञान में लगे आदमी बड़ी जल्दी धर्म को स्वीकार करते हैं। मेरी राय मे सब धर्मों का निचोड़ यही है कि विश्वास से आदमी बदला जा सकता है।

हम वही हैं जो अपने को माने हुए हैं। अवतार हमारी मान्यता को बदलकर हमें कुछ-का-कुछ बना देते हैं। जो विश्वास अवतार हममें पैदा करते हैं क्या वह हम अपने-आप अपने में पैदा नहीं कर सकते? —क्यों नहीं कर सकते? ज़रूर कर सकते हैं। कैसे? —दो तरीकों से: विवेक से और त्याग से। विश्वास के दो पहलू होने से ये दोनों एक ही हैं। कहने के लिए दो हैं। जीवन के तूफान में डगमगाता आदमी अगर अपने पाँव जमाना चाहता है तो आंखे खुली रखे और उन्हीं गुणों को अपनाए जो आदमी के अपनाये जाने लायक हैं। उन्हीं उद्देश्यों की ओर दौड़े जिन तक पहुँचकर उसका आत्मा खुशी का भोजन पाएगा। अपना सबसे सच्चा, सबसे बलवान्, सबसे ज्ञानवान्, वही मिलेगा। आदमी को सम्पूर्ण बनने के लिए विवेक के दीये को लेकर भले-बुरे गुणों की तमीज़ करनी ही होगी। उनमें से एक को पकड़कर बैठना ही होगा। पकड़ते ही त्याग शुरू हो जायगा। सच को अपनाकर झूठ छोड़ना ही होगा। ऊँचा डंडा पकड़कर नीचे का छुट ही जायगा, चढ़ने का तरीका यही है। 'हाँ हूँ' का दूसरा पहलू 'नहीं हूँ' है ही।

विवेक और त्याग न अपने-आप कभी पैदा हुए, न होते है, और न होंगे। ये खासियतें अलग कहीं मिलती ही नहीं। ये तो विश्वास के पाने वाले की शक्ल में ही मिलती है। किसी में विश्वास किये बिना ये दोनों तुम्हारे हाथ न लगेंगी। विश्वास के बिना तुम ऐसे गिरोगे कि हजारों घोड़ों की ताकत वाला लोहे का घोड़ा भी तुम्हें न उठा सकेगा।

मरते आये हो, मर रहे हो, मरते रहोगे—यह सिलसिला तो न रुकेगा। हाँ, कुत्तों की मौत मरना रुक सकता है, और वह विश्वास से।

मानना शुरू कर दो कि तुम हो, आजाद हो, जो और कर रहे है, वह कर सकते हो, और ज्यादा भी कर सकते हो।

• १४ •

धोखा

(पंडित प्रतापनारायण मिश्र)

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता; क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है, वह धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, 'आश्चर्योस्य वक्ता' "चित्रं देवानामुदगादनीकं" इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते है, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है--धोखे का पुतला।

वह मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कह नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रम-रहित क्योंकर कहा जा सकता है । शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या, भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो-कुछ है, और जो-कुछ होता है, सब भ्रम है । किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक में वे फूट-फूटकर रोने लगे । इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है । सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (संसार) में जो-कुछ है भ्रम ही है । जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं । और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं । परमेश्वर सबका भरम बनाए रखे, इसीमें सब-कुछ है । जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है । जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब

एक है जस मेहरी तस माय,' इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठे वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखे तो आपका शरीर मल-मूत्र, माँस-मज्जादि घृणास्पद पदार्थ का विकास-मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द-लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचारकर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कह-लावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ। इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरज़े दुरुस्त हैं और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन आवाज़ आ रही है, जहाँ उसके पुरज़ों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है,

जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ! कैसी आत्मा ! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अन्ततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख-दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता ।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और बैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया । किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों मे रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे । ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पड़ता है । फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं । धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब-कुछ धोखा-ही-धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरंच रह ही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौं क्यों सिकुड़ जाती हैं ?इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ-न-कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी है, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती है ।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते; यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भव सागर में रहने वाले

अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है; और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निन्दा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब-कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी; और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखे-बाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाज़ी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरु घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा।

इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि ज़ाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज़ का पहचानना साधारण समझ वालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आप से भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाये हुए हैं और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या; अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खाओगे; क्योंकि जो हिन्दू होकर 'ब्रह्मवाक्य' नहीं मानता वह धोखा खाता है।

• १५ •

लोभ

(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है, क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख मोल नहीं मिलता। इसलिए जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब-कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो वह वृथा अहङ्कारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब-कुछ समझते, परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है, क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आजकल के समय के अनुकूल नहीं। यूरोप और अमरीका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व—समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है ? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय, परन्तु भारत-वर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय, अतएव दुःख का मूल कारण समझते है, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं, क्योंकि साधा-रण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के लिए जो धन काम आता

है, वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार ही खाने-पीने की आवश्यकताओं को दूर करने के लिए धन की चाह होती है। दूसरों को दिखलाने अथवा उसे स्वयं देखने के लिए धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं। कोई जगत्-सेठ ही क्यों न हो, यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा, तो उसे उस विद्या को उसी तरह सीखना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन महा कङ्गाल को सीखना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने में उसकी धनाढ्यता ज़रा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सकता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति, शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते हैं ? कभी नहीं।

जिसके पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने-आपको अर्थात् यों कहिये कि अपनी आत्मा को, अपने वश में नहीं रख सकता; क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रतिदिन बढ़ाने का यत्न करता है। अतएव वह धन किस काम का जो लोभ को बढ़ाता जाय ? भूख लगने पर भोजन कर लेनें से तृप्ति हो जाती है, प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है, परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी लोभ बढ़ता है। इसीलिए धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाड़े से बचने के लिए एक लिहाफ़ काफ़ी होता है। यदि किसी के ऊपर आठ-दस लिहाफ़ डाल दिए जायँ तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम होता। इसीलिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जिसे धनाढ्यता-रोग हो जाता है, वह भी कभी तृप्त नहीं होता। तृप्ति का न होना, अर्थात् आवश्यकताओं का बढ़ जाना ही, दुःख का कारण है और जहाँ दुःख है, वहाँ सुख रह ही नहीं सकता। उन दोनों में परस्पर वैर है। अतएव

उसी को धनी समझना चाहिए जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं; क्योंकि वह थोड़े में तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है; लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते-खाते सन्तुष्ट नहीं होता उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके लिए वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक खिलाने की अपेक्षा उनके खाये हुए पदार्थ को वमन कराके बाहर निकालना पड़ता है; क्योंकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रतिदिन अधिक-अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है, अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता; किसी-न-किसी वस्तु की सदैव कमी बनी ही रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है, परन्तु है बड़ी सख्त बीमारी। सख्त इसलिए है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है; भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उल्टा है। उसे द्रव्य की भूख रहती है; परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम में नहीं लाता—रख छोड़ता है; और अधिक धन पाने के लिए दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिसमें उसे किसी समय उसकी कमी न पड़े। परन्तु उसे कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है, परन्तु पीछे से वह यथार्थ—असली—हो जाती है; क्योंकि घर में धन होने पर भी वह काम में नहीं ला

सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोष का सुख खाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ से मूल-धन व्यर्थ बढ़ता है और उसका उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिए, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ जाने ही के लिए है। ऐसे धन से क्या लाभ? ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार-भर में जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभी का धन उसके काम तो आता नहीं; इसलिए उसे दूसरे का धन, मन-ही-मन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उससे उल्टा लाभ है, क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को खज़ाने के सन्तरी समझना चाहिए। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिए छोड़ जाते हैं।

कोई-कोई लोभी अपने पीछे अपने लड़कों के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया, उसके बिना उनके लड़कों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगाकर खुद भी बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्ति वाले से हम अधिक सम्पत्ति वाले ही को दरिद्री कहेंगे। क्योंकि जिसे ५ रुपये की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपये की आवश्यकता वाला है। कहाँ ५ और कहाँ ५००! सधनता और निर्धनता मन की बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् हैं। क्योंकि उदारता के कारण उनका धन किसी के काम तो आता है—चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत

धन होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना-न-होना दोनों बराबर है। शेख सादी ने बहुत ठीक कहा है :

"तवङ्गरी बदिलस्त न बमाल।"

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

• १६ •

करुणा

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

जब बच्चे को कार्य-कारण-सम्बन्ध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ-ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं।[1] इस प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।[2]

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनो-

---

१ कार्य। २ कारण।

विकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती है पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मै समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देखकर हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बन्द नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं, पर आनन्दित हम ऐसे ही

आदमी को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमें वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जबकि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बन्धु को दुःख में देखकर हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान मे अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है, अतः सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ।

अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अन्तःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है, पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। बोल-चाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं।' दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करने वाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं कर सकता जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है; इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना,' आदि नियम के अन्तर्गत है, शील के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं, इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी भी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरजंन, खुशामद और

शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में ऐसा बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्म-ग्रन्थों में झूठ बोलने की इजाज़त तक दे दी गई है, विशेषतः तब जबकि इस नियम-भंग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है, क्योंकि नियम शील व सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दम्भ है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नही अधमाई ।।

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी-न-किसी रूप में सात्विक शीलता ही है। अतः करुणा और सात्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देखकर तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी मे और किसी मनोवेग को देखकर श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देखकर लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि अन्तःकरण-वृत्ति रागात्मक है। अतः मनोवेगों मे से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयों का अन्तिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता

ही है; बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हज़ार बार देखा; अतः हमारी कल्पना मे यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकड़ी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायिका है, वे मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय-मात्र ढूँढ़ती है। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करने वाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है, क्योंकि उसमें दया व करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अत. प्रिय के वियोग मे इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय मे डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमे साधारण जनों के उपस्थित दुःख से होती है वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय-मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी-किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते है। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है :

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वैहै, राम लखन दोउ भाई।।

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है, उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए, जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था, पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि :

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं :

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।।
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रमक्रम करिके न्हाते।।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै।।
अब यह 'सूर' मोहि निसि-वासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच।।

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री सन्देह करती है :

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मै जली, वही न जलता होय।।

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया, किन्तु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्मपक्ष-सम्बन्धी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते है। जिस व्यक्ति से

किसी की घनिष्ठता श्रौर प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का श्राधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा श्रंश उसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य श्रपने लिए संसार श्राप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। श्रतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिए उसके संसार के एक श्रंश का उठ जाना या जीवन के एक श्रंग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिर-वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए श्रन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के सम्बन्ध में श्रपनी त्रुटियों को स्मरण करके श्रौर यह सोचकर कि उसकी श्रात्मा को सन्तुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत श्रधीर श्रौर विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति श्रौर पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार श्रावश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करे कि समाज में एक-दूसरे की सहायता श्रपनी-श्रपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह श्रभिप्राय है कि संसार में एक-दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्तिकारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से श्रपनी रक्षा की भी सम्भावना है इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखता है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल श्रौर मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ता। किस युग में श्रौर किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-

रक्षा के लिए एक-दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरुषों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुस्टंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देखकर हमे जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देखकर नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के विशेषतः अपने परिचितों के क्लेश या करुणा पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ, लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में घुसकर सचाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती, अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं मे यह बात दिखलाई गई कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। उद्वेगशील बंगला उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान मे देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को, जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी, उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल-सम्बन्धी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के सम्बन्ध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमे दया आती है, पर जब सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तब हमे अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं अर्थात् प्रकारान्तर से वे मनोवेगों के लिए विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आप-से-आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी विषय के सामने आने पर ये उससे सम्बन्ध (पूर्वापर वा कार्य-कारण-सम्बन्ध) रखने वाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब-के-सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न-भिन्न मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेगों को परिवर्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति की मन्द करने वाली स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्तःकरण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर ज़ोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो

स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते हुए भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देखकर आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है, पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुंह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है——उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुंह बना-बनाकर कहने लगे हैं——"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनन्द छोड़ो। बस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी, पर जब बार-बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता; पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणाम का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है——(१) आवश्यकता, (२) नियम

ग्रौर (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बूढ़ा ग्रौर कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम मे हर्ज होता है। तो हमे उसकी अवस्था पर दया ही आती है, पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकतावश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देखकर, जिसके पास एक पैसा भी होगा, दया तो करेगा, पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से ही मृत पुत्र के कफ़न का टुकड़ा फड़वाकर नियम का अद्भुत पालन किया था। पर वह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है; उससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने मे आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिये तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता है, कान पकड़ता है और पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण

निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षतिग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा जैसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देता है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्ता में करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों मे वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार-पाँचसौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

• १७ •

धीर

(राय कृष्णदास)

जो धीर है, जो उद्वेगरहित है, वही संसार मे कुछ कर सकते है। जो लोहे की चादर की भाँति ज़रा ही में गरम हो जाते और ज़रा ही में ठण्डे पड़ जाते है, उनके किये क्या हो सकता है? मसल है—"जो बादल गरजते है, वे बरसते नहीं।"

धीर पुरुष का मन समुद्र के समान होता है। वह गम्भीर और अथाह होता है। समुद्र की तरह मर्यादा-पालन में उसकी यह दशा है कि आनन्द और ऐश्वर्य-रूपी अनेक नद-नदियाँ उसमें गिरती है; पर क्या मजाल जो वह ज़रा भी मर्यादा का उल्लंघन करे। उसकी परिपूर्णता को देखिए—ताप रूपी सूर्य दिन-रात उसे तपाया करते है। यही नहीं, चिन्ता रूपी विचार-बड़वाग्नि दिन-रात उसमें जला करती है, पर उसमें ज़रा भी कमी नहीं होती। साथ ही, जिस समय उसमें कोई तूफान आ जाता है उस समय किसकी मजाल है जो उसे रोक सके। यह नहीं कि इधर पानी बरसा, उधर पहाड़ी नदी उबल पड़ी; बीच में हाथी भी पड़ा तो बह चला, पर थोड़ी देर में पानी नदारद, हाथी ज्यों-का-त्यों बच गया।

एक बड़ा भारी दार्शनिक कहता है—"चाहे युद्ध हो, चाहे मरण ही क्यों न हो, जिसका मन ऐसे समयों में भी हिमाचल की तरह अचल रहता है, वही धीर है।" अहा, कितनी अच्छी परिभाषा है! सचमुच,

जिसका मन ज़रा से सुख या दुःख से उद्विग्न हो गया, वह क्या कर सकेगा ? कैसा ही समय क्यों न आ पड़े, कैसी ही भारी बात क्यों न हो जाय, जिस पुरुष का मन निश्चल रहता है—जिसका मन बाल-भर भी नहीं डिगता—वही काल-चक्र की गति को बदल सकता है; वही संसार के वीरों में गिना जाता है। वही संसार में कुछ कर गुज़रता है। उसी का नाम सारी जाति सच्चे आदर से लेती है। उसी का नाम इतिहासों में अजरामर हो जाता है।

एक बार नेपोलियन से, जब वह यूरोप फतह कर रहा था, किसी ने कहा—"महाराज, आल्प्स (पर्वत) सामने खड़ा है; सेना क्योंकर उसके दूसरी ओर जायगी ?" उस धीर के मन में ज़रा भी उद्वेग न हुआ। उसने जवाब दिया—"हाँ, ऐसी बात है। आल्प्स को भी मालूम हो जायगा कि नेपोलियन इधर से ही गया।" आदेश हुआ—"आल्प्स न रह जाय।" धीर का आदेश भला कहीं टल सकता था। यह तो था नहीं कि कभी यह बात, कभी वह बात। वहाँ तो ज़बान से जो निकला, सो निकला। बस, आल्प्स नहीं रह गया।

मानसिंह ने बरसात के दिनों में काबुल पर चढ़ाई की। अटक (सिन्धु) खूब चढ़ी हुई थी। पार करने के लिए कोई पुल न था। साथ ही कुछ लोगों ने कहा कि अटक का पार जाना शास्त्र-सम्मत नहीं, पर क्या इससे प्रशान्तसागर-सदृश मान डावाँडोल हो सकता था ? पर्वत भी प्रलय-वायु से हिल जाते हैं; पर निश्चल मन कभी नहीं हिलता। निदान मान ने कहा :

"सबै भूमि गोपाल की यामे अटक कहा।
जाके मन में अटक है सोई अटक रहा॥"

ज़रा इस पद्य के दूसरे चरण पर ध्यान दीजिए। देखिए, कैसा विलक्षण भाव टपक रहा है। अस्तु, मान ने अपना घोड़ा सिन्धु मे डाल दिया। कहते हैं, सिन्धु नदी उतर गई और घुटनों तक ही पानी रह गया। आखिर तो बरसात मे बढ़ी हुई नदी थी न ! धीर के

उज्ज्वल उदाहरण मान के सामने भला वह कब ठहर सकती थी? याद रखिए, यदि मान मे इतना धैर्य न होता तो वह ऐसे दुर्जय स्थान को जीत न सकता।

बाबर जब इब्राहीम लोदी पर चढ़ाई कर रहा था, तब उससे एक नजूमी ने कहा कि सामने मंगल है। आप चढ़ाई न करिए, नहीं तो हार जायँगे। पर, इससे क्या होने को था! यदि वह धीर ऐसी बातों से डर जाता तो भला भारत में इतना बड़ा मुगल-राज्य स्थापित कर सकता? अस्तु, उसने चढ़ाई आरम्भ कर दी। उसमें उसी की जीत हुई।

महाराज प्रतापसिंह को सत्ताईस बरस तक कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़े, क्या-क्या विपत्तियाँ उन पर नहीं आईं, क्या-क्या दुःख उन्हें नहीं उठाने पड़े, पर क्या इससे धीर का स्वरूप बदल सकता था? भला, कड़ी-से-कड़ी धूप से तप्त होकर भी बरफ कहीं शीतलता छोड़ सकता है। एक कवि कहता है:

"कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥"

अर्थात्—धीर पर दुःख पड़ने से उसका धैर्य-गुण थोड़े ही दूर हो सकता है। जलती आग को यदि उलट दीजिए तो भी उसकी शिखा ऊपर ही को जायगी, नीचे को नहीं।

धीर का प्रधान लक्षण है:

"जलाहतौ विशेषेण विद्युदग्नेरिव द्युतिः।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धीरः स एव हि॥"

—कथा-सरित्सागर

अर्थात्—जलाहत विद्युदग्नि के समान विपत्ति में जिसकी प्रज्ञा की द्युति बढ़ती जाती है, वह धीर है।

कैसी पते की उक्ति है! प्रताप का धैर्य उन विपत्तियों से दिन-दिन बढ़ता ही गया। जैसे-जैसे उन्हें कष्ट झेलना पड़ा, जैसे-जैसे उनकी उलझनें जटिल होती गईं, वैसे-ही-वैसे उनके धैर्य की जड़ मजबूत

पड़ती गई। धैर्य-रूपी वृक्ष की विपत्ति ही खाद है, वही धैर्य की कसौट है। तभी न गुसाई जी कहते हैं :

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत काल परखिए चारी।।"

यों, सुख मे तो धीरता का अभिनय सभी कर सकते हैं। पर संसार के किसी अनर्थकारी कृत्य को देखकर यदि किसी धीर महात्मा का हृदय जल उठता है तो फिर क्या पूछना है, मानो बाकू के मिट्टी के तेल की खान मे आग लग गई, बिना उस अनर्थ का नाश किये, वह जलन बुझने की नहीं। भला ब्रह्मास्त्र भी कहीं बेकार जा सकता है! ज़रा एक दृश्य इस तरह का भी देखिए।

हज़रत ईसा मसीह ने जिस समय जेरुसलम मे जन्म लिया उस समय वहाँ की क्या दशा थी, यह इतिहास-प्रेमियों को अविदित नहीं। चारों ओर अकर्म फैल रहा था, चारों ओर अनर्थ और अविद्या का प्राबल्य था, सज्जन कष्ट में पड़े हुए थे, दुर्जनों की उन्नति हो रही थी। इस अन्धेरे को देखकर उस महात्मा का जी जल उठा। उसे यह सब असह्य होने लगा। बस फिर क्या था? उस धीर ने इस अधर्म-चक्र की गति को उलटने की ठान ली। इस गति को फेरना शुरू कर दिया। दुरात्माओं को मालूम हो गया कि कोई अलौकिक शक्ति काम कर रही है। अनेक विरोधी खड़े हो गए। उन लोगों ने चाहा कि पाप-चक्र की गति न रुकने पाए, वह ज्यों-की-त्यों बनी रहे। लाख-लाख उद्योग किये गए, पर उन सबसे क्या हो सकता था? जो स्वयं अधीर है, जो खुद ही चंचल है, जिनका मन सदा ही सरपट दौड़ा करता है, भला उनकी क्या मजाल जो संसार-चक्र की गति के बदलने को रोक सके। पहले वे अपने मन-चक्र का तो निग्रह कर लें, फिर संसार-चक्र का निग्रह करेंगे। अस्तु, ऐसे ही दुर्जनों ने ईसा के आन्दोलन को रोकना चाहा, धैर्य को अधीरता से जीतना चाहा। इसका नतीजा क्या हुआ? अधर्म से धर्म की जीत न हो सकी। हाँ, थोड़े दिन के लिए अधर्म बल्कि यह

कहिए कि पाप-चक्र की चाल और भी बढ़ गई—अत्याचार दिनों-दिन बढ़ने लगे। पापियों ने सोचा, अब हमारी जीत हुई, मगर यह बात उन्हें न सूझी कि मरने के समय चींटों के पंख निकल आया करते हैं। जब दीपक बुझने को होता है, तब उसका प्रकाश बढ़ जाता है। निदान, अत्याचारों की बढ़ती यहाँ तक हुई कि हजरत धर्म-विद्रोही सिद्ध किये गए और उन्हें सूली पर चढ़ाने का शाही हुक्म हुआ। हरेक आदमी अपने मन से संसार को तोलता है। इस बादशाह ने भी ईसा को अपने मनोरूपी काँटे से तोला, इसलिए वह अपने ही समान ईसा को भी अधीर समझ बैठा। उसे निश्चय था कि ईसा अब राह पर आ जायगा। मृत्यु का नाम सुनकर वह डर जायगा और ऊल-जलूल बकवाद छोड़कर चुप हो बैठेगा। पर भला धीर भी कहीं मृत्यु से डरते हैं! मृत्यु को तो वे फूल के हार की तरह ग्रहण करते हैं। आत्मबलि ही से तो उनके कार्य की सिद्धि होती है। ऐसे ही समय में तो उन्हें अपने सच्चे या झूठे होने का पता चलता है। ऐसे समय मे दृढ़ रहने से तो उनकी उपाधि (धीर) सार्थक होती है। खैर, हज़रत सूली पर चढ़ गए। उनके हाथ-पाँवों में कीलें ठोंक दी गई। बस पाप-चक्र का यहीं खात्मा हो गया। हज़रत के हाथ-पाँवों मे कीलें नहीं ठोंकी गई, बल्कि पाप-चक्र मे कीलें ठोंक दी गई। एक धीर के आत्मोत्सर्ग से दुनिया के एक तिमिराच्छन्न हिस्से में सत्य का प्रकाश हुआ; सत्य-सूर्य का उदय हुआ। उसकी मृत्यु से एक मृत जाति जीवित हो उठी।

संसार के इतिहास में धीरों के एक नहीं लाखों उदाहरण पाये जाते हैं। बिना धैर्य के अवलम्ब के, अनेक गुणों से विभूषित रहने पर भी, लोग कुछ नहीं कर सके हैं। धैर्य सदाचरण की पहली सीढ़ी है। बिना धैर्य के जगत् में कोई भी सदाचार की—उन्नति की—सोपान-परम्परा पर नहीं चढ़ सकता।

जो अधीर हैं भला वे क्या कर लेंगे! बरसाती नदी और शरत्का-लीन बादलों की तरह, जिनके मन का रंग पल-पल पर बदलता है, क्या

उनके किये भी कुछ हो सकता है ? उनके मनोरथ कभी पूरे नहीं हो सकते। राई-सा दुःख उन्हें पहाड़-सा प्रतीत होता है। उसे वे सह नहीं सकते। उनके कारण उन्हें अनेक आधि-व्याधियाँ घेर लेती है।

बिना धीर हुए, बड़ी-से-बड़ी आपत्तियों को झेलते हुए भी सुख एवं आरोग्यतापूर्वक लोक-यात्रा कोई पूरी नहीं कर सकता। बिना धीर हुए कोई संसार-समर को जीत नहीं सकता। कोई संसार की या अपनी उन्नति नहीं कर सकता। सबका निष्कर्ष यह है कि जो धीर नहीं, वह कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिए संसार में यदि कुछ करने की इच्छा हो तो धीर बनो।

• १८ •

हीन-भावना

(श्री कन्हैयालाल सहल)

आत्म-विश्वास की कमी ही हीन-भावनाओं को जन्म देती है। परीक्षणों द्वारा बहुत से मनोवैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रौढ़ों में से करीब ७५ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिनको अपनी शक्ति मे विश्वास नहीं, जिनको इस बात का भी पता नहीं कि वे हीन-भावना के शिकार हो रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जब यह कहता है कि बहुत से मनुष्यों मे चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन का अंश अधिक है और अवचेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन का अंश अधिक है तो साधारण पाठक चौंक उठता है। क्या इसका अभिप्राय यह है कि हममें से बहुत से ऐसे हैं जो अपने ही मन के बारे मे सबसे कम जानते हैं? यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि दूसरे हमारे बारे मे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी रखते हैं और हमे अपना ही पता न हो। मनो-विश्लेषण के आचार्य मानसिक रोगी के अचेतन मन का ज्ञान कराकर उसे रोग से मुक्ति दिला देते हैं। आत्म-ज्ञानहीनता सबसे बड़ा रोग है जिससे अन्य अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। हमारी कुण्ठित इच्छाएँ ही अचेतन मन में संचित होकर हीन-भावना जैसी ग्रन्थियों को जन्म देती हैं। आकांक्षाओं को अगर तुष्टि का स्वाभाविक मार्ग मिलता रहे तो जीवन के सामाजिक प्रवाह में इतने रोड़े इकट्ठे न हों। बन्द तालाब का पानी सड़ने लगता है, अनाविल रहने के लिए पानी को

उन्मुक्त होकर बहने की आवश्यकता है।

हीन-भावना का उद्गम प्रायः बाल्यावस्था में ही देखा जाता है। ज्ञान की कमी, चातुर्य का अभाव, अंग-विकार आदि अनेक कारणों से बालक हीन-भाव का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी विकृतियों के दूर हो जाने पर हीन-भावना भी विदा हो जाती है, किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने को अयोग्य ही समझते हैं। स्कूलों का निरीक्षण करते हुए मैंने देखा है कि अनेक अवसरों पर योग्य अध्यापक भी काँप उठता है। वह यह समझने ही नहीं पाता कि इन्स्पेक्टर ही सर्वज्ञ नहीं होता। ज्ञान के अभाव में भयभीत होना समझ में आ सकता है, किन्तु सुयोग्य होते हुए भी लड़खड़ा जाना आत्महीनता का ही द्योतक है।

आत्म-हीनता के इस रोग पर कैसे विजय पाई जाय? यह प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है। सबसे पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि हम अपनी शक्तियों की नाप-जोख करें, किन्तु ऐसा करने में एक बात का खतरा रह सकता है। कभी-कभी सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति से अपनी तुलना करके हम अपने में गुणों के अभाव का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु ऐसा करना अपने प्रति अन्याय करना है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक काम में सर्वोत्कृष्ट नहीं हो सकता। यदि हम औसत व्यक्ति से अपनी तुलना करें तो बहुत सी ऐसी बातें मिल सकती हैं जिनमें हम उसे मात कर सकते हैं। कम-से-कम इतना तो आश्वासन हमें मिल ही सकता है कि हम बहुतों से उत्कृष्ट हैं। इसके विपरीत ऐसी बातें भी निकल सकती हैं जिनमें औसत व्यक्ति हमसे बढ़ा हुआ हो। ऐसी अवस्था में हमारा कर्तव्य है कि अपनी कमियों को, अपनी अपूर्णताओं को समझें और उनको दूर करने का प्रयत्न करें।

बहुत अंशों में मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु तथा अपना मित्र होता है। 'मुझमें अमुक कमी है, मुझमें अमुक हीनता है,' निरन्तर इसकी रट लगाये रहने से तो वह आत्म-विश्वास सर्वथा खो बैठता है।

किन्तु यदि उसकी प्रसुप्त आत्म-चेतना जागृत हो उठे, उसको यह भान होने लगे कि वह भी कुछ कर सकता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रगति के पथ पर वह एक कदम आगे बढ़ गया है। हनुमान के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि उनको बल का स्मरण कराने पर उनमे सैकड़ों गुना बल आ जाता था। मनु के यह कहने पर,

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का यह कल्पित गेह।"

श्रद्धा ने जो उत्तर दिया था वह आज भी स्फूर्तिदायक सिद्ध हो सकता है :

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
विश्व में गूँज रहा जय-गान।
डरो मत अरे अमृत संतान
× × ×
प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेंगे कभी न वासी फूल।" (कामायनी)

हीन-भावना से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य का मस्तिष्क अच्छी तरह काम करने लगे। वह भले-बुरे में अन्तर मालूम करे और अपनी मनोवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

सुन्दर स्वस्थ शरीर भी हीन-भाव को दूर करने में सहायक होता है। शारीरिक सौन्दर्य भले ही न हो, स्वास्थ्यगत सौन्दर्य तो हममें होना ही चाहिए और सच्चे अर्थ में तो स्वास्थ्य ही सौन्दर्य है। हीन-भाव की पूर्ति के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते है। आँखों में फोला पड़ जाने पर चश्मा लगाना, होठ कट जाने पर मूँछ बढ़ाना, ठुड्डी पर कुष्ठ के चिह्न प्रकट हो जाने पर दाढ़ी बढ़वाना—सभी क्षति-

पूर्ति के प्रयास हैं।

हीन-भाव को दूर करने के लिए एक आवश्यक उपाय यह भी है कि जो मनुष्य आत्म-विश्वास की कमी के कारण कभी किसी काम में सफल हुआ ही नहीं, उसके लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें सफलता निश्चित हो जाय। एक बार सफलता के स्वाद का अनुभव कर लेने पर तो वह अनायास दूसरी सफलता के लिए उद्यत हो जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसा काम उठाया जाय जो व्यावहारिक हो, उसके बल-बूते का हो जिससे उसे निराशा का सामना न करना पड़े। कोरे आदर्शवाद की परिणति प्रायः निराशा में देखी जाती है। यथार्थ का बल न मिलने पर आदर्शवाद पंगु रह जाता है।

हीन-भाव को दूर करने की रामबाण औषध यह है कि हम अपनी सीमाओं को समझें। आसमान के तारे तोड़ना हमारे लिए संभव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड़-धूप करके हम अपनी हविस पूरी कर लें; असंभव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे, दूसरा हमसे विशिष्ट है, होगा, इससे हमें क्या? सामर्थ्य हो तो हम भी आत्म-विकास करके उच्चासन पर पहुँच जायँ। यदि यह सम्भव न हो तो अन्य किसी उपयुक्त क्षेत्र को चुनकर हम अपनी विशेषताओं का परिचय दें। केवल मन की जाली फेंककर चाँद को धरती पर तो नहीं उतारा जा सकता। और फिर एक मनुष्य के पास हरएक वस्तु आएगी भी कहाँ से और कैसे?

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने ठीक ही कहा है :

"कमल तुम्हारा दिन है,
और कुमुद यामिनी तुम्हारी है।
कोई हताश क्यों हो?
आती सब की समान बारी है।

धन्य कुमुद, दिन जिसके,
धन्य कमल रात साथ में जिसके,
दिन और रात दोनों,
होते हैं हाय हाथ में किसके ?"

अमृत-संतान मानव को अवसाद कभी शोभा नहीं देता। हार मानकर बैठ जाना मनुष्य के लिए सबसे बड़ी लज्जा की बात है। भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों और सन्तों तथा चंडीदास, पंत आदि कवियों ने मानव की महत्ता का उद्घोष किया है।

'चौदह भुवन जे तर उपराही।
ते सब मानुष के घट माही।'

—कहकर जायसी ने भी मानव का ही जय-जयकार किया है। मानव नामधारी होकर भी जो क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य का परिचय दे तथा आत्म-हीनता का अनुभव करे, वह कैसा मानव है ?

• १६ •

कल्पना

(डॉक्टर सत्येन्द्र)

एक विद्यार्थी ने अपनी एक पाठ्य-पुस्तक में पढ़ा : 'कल्पना' मिथ्या का दूसरा नाम है। मिथ्या कवि के पास आकर कल्पना बन जाती है। दूसरे शब्दों में पाठ्य-पुस्तक के उस निबन्ध-लेखक ने यह स्थापित कर दिया कि कल्पना मिथ्या अथवा असत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और तब आचार-शास्त्री ने यह निर्णय सुनाया कि कवि को कभी स्वर्ग नहीं मिल सकता !

"यह तो कोरी 'कल्पना' है"...यथार्थवादी ने बलपूर्वक कहा। यथार्थ से परे ही है कल्पना, जब तक कल्पना 'कल्पना' है वह यथार्थ नहीं हो सकती। वह आदर्श हो सकती है—क्योंकि यथार्थ आदर्श से चिढ़ता है, वह आदर्श को ही यह नाम दे सकता है।

एक व्यवसायार्थी को व्यवसाय-पति ने यह कहकर अपने यहाँ से निकाल दिया कि 'तुममें कल्पना का अभाव है। कल्पनाहीन व्यक्ति व्यवसाय के अयोग्य है।'—और वह कल्पनाहीन व्यवसायार्थी अपने अभाव को उन शब्दों में आज तक नहीं समझ सका।

विधायक कल्पना वैज्ञानिक के लिए अनिवार्य है। विधायक कल्पना ने ही समस्त वैज्ञानिक शोधों को अग्रसर किया है और सफलता दिलाई है।

'कवि, प्रेमी, दार्शनिक और उन्मादी, सभी कल्पना-ग्रसित होते

है'— ये शब्द शेक्सपियर ने अपने एक पात्र से कहलाये हैं।

'स्वर्ण पंखों की परी ! अयि कल्पने !' कवि ने कल्पना के मानसिक सरस और रंजित साक्षात्कार से पुलकित और विभोर होकर लिख डाला !

कल्पना का मनोविज्ञान—कल्पना एक मानसिक व्यापार है। मस्तिष्क द्वारा मन कितने ही व्यापार सम्पादित करता है जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

१—एक ओर यह 'जगत्' है; दूसरी ओर मानस है।

२—मानस ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत् से सम्पर्क प्राप्त करता है।

३—यह प्रथम सम्पर्क 'इन्द्रिय-ज्ञान' होता है। चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा तथा त्वचा जगत् का जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं और जिससे पूर्व किसी अनुभव का सहयोग नहीं होता, वह इन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान वस्तुतः ज्ञान की सीमा को छूता है।

४—इन्द्रिय-ज्ञान मानस के स्मृति-कोष में समा जाता है।

५—पुनः इन्द्रिय-ज्ञान होने पर पिछले स्मरण के सहयोग से कुछ समझने योग्य रूप तैयार होता है। यह परिज्ञान है।

६—इस प्रकार का परिज्ञान पुनः-पुनः समृद्ध होता जाता है, पुराने अनुभव, नये अनुभव, इनसे बने विविध रूप ये सब 'ज्ञान' हो जाते हैं। मनुष्य जानकार अथवा ज्ञानवान कहा जाने लगता है। प्रत्येक ज्ञान की पृष्ठभूमि स्मृति होती है और नया अनुभव उसे उद्वेलित करता रहता है।

७—ज्ञान-ग्रहण तक शुद्ध 'सत' का भाव रहता है। जो कुछ भी सामने आता है, इन्द्रियाँ ग्रहण करती जाती हैं। वह मानस कोष में एकत्र होता जाता है।

८—ज्ञान-सम्पादन में मस्तिष्क में तीन प्रक्रियाएँ होती मिलती हैं।

(अ) इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त अनुभव-सामग्री।

(आ) परिज्ञान से उद्‌मुदित तुलनात्मक चेतना स्वयं प्रेरित (Instinctive) होती है, अतः मात्र 'सत' अथवा 'जड़' की

ही एक गति है ।

(इ) बोध, सामग्री तथा तुलना से सहज ही कोई निष्कर्ष उपलब्ध हो जाता है । यह रूपात्मक हो सकता है अथवा केवल सूक्ष्म भाव-सम्बन्धी हो सकता है ।

९—अतः ज्ञान-सम्पादन की क्रिया से स्वयमेव एक चेतना तथा बोध उदय होता है । इससे मनुष्य के 'स्व' का निर्माण होता है, और 'पर' से भेद स्पष्ट होने लगता है ।

१०—प्रकृतिदत्त आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात प्रवृत्ति इस 'स्व' को और अधिक पुष्ट करती है—तुलना और बोध में 'स्व' का मूल केन्द्र 'स्व' की दृष्टि से ग्राह्य और अग्राह्य की भावना को जन्म देता है—यही भावना विशेष गतिवान होकर 'बुद्धि' का रूप ग्रहण कर लेती है । यह बुद्धि तुलना और बोध से बहुत काम लेती है और वस्तु के नाम रूप से भी सूक्ष्म भावों को जागृत करने का कारण बन जाती है ।

११—बुद्धि की गति को 'विचार' कहते है, क्योंकि 'स्व' की दृष्टि से निबद्ध 'बुद्धि' 'स्व' और 'पर' का भेद प्रत्येक ज्ञान में स्थापित करना चाहती है । ये 'स्व' और 'पर' प्रश्न रूप में उसके समक्ष खड़े होते हैं, प्रश्न अपने साथ 'विचार' लाता है ।

१२—मनुष्य में जहाँ आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात भावना है, वहीं आत्म-समर्पण अथवा तादात्म्य का भी भाव सहजात है । विचार 'स्व' 'पर' के चिन्तन मे मग्न कभी दोनों को भिन्न कभी अभिन्न देखता है । वह यह चाहता है कि दोनों स्वरूप स्थिर रहें—क्या किसका है इसे वह निश्चय नहीं कर सकता, तब विवेक का उद्भव होता है । विचार जहाँ तुलना का चेतन रूप है, विवेक बोध का चेतन रूप है । विचार और विवेक से 'चित्त' अथवा चैतन्य की वृत्ति पूर्ण बलवती होने लगती है ।

१३—बलवती चेतना मे बड़ी गति और चंचलता रहती है । यह उदय होकर मानस और मस्तिष्क की प्रत्येक प्रवृत्ति पर शासन जमाती

है और प्रेरणा देती है। यही चेतना इसलिए व्यग्र रहती है कि आत्म-साक्षात्कार किया जाय—यह अपनी गति और व्यग्रता से उपलब्ध सामग्री से अपनी मौलिक चाह के सन्तोष के निमित्त स्वयं कितने ही रूपों का निर्माण करने के लिए प्रवृत्त होती है। यही आनन्द के लिए उत्कण्ठित होती है। चेतना का यह आत्म-रूप उद्योग ही कल्पना कहलाता है। यह कल्पना ही चेतना का यथार्थ लक्षण है। इसी की जब ऊर्ध्व गति होती है तब आनन्द की अनुभूति हो पाती है। यहीं, इसी के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खड़ा कर सकता है, यहीं वह कुछ सृजन करने का दावा कर सकता है।

१४—चित्त की तीसरी वृत्ति कल्पना ही सृजनभाव का उद्रेक कर 'मनुष्य' के अहंकार को अवस्थित करती है।

इस विवेचन से 'कल्पना' का मनोवैज्ञानिक रूप स्थिर होता है। भारतीय ऋषियों ने समस्त सृष्टि में तीन स्थितियों की परिकल्पना की। उन्होंने उन तीनों के द्वारा ही ब्रह्म-सृष्ट के विराट् तथा सृष्टि के मूल का नामकरण करके उसे 'सच्चिदानन्द' कहा—सत, चित्त और आनन्द। मानसिक क्षेत्र में शोध से ज्ञात होता है कि कुछ मानसिक वृत्तियाँ केवल सत हैं—मन और बुद्धि तक हम 'सत' मान सकते हैं, कारण यह है कि ये वृत्तियाँ शरीर के अन्य आवश्यक धर्मों की भाँति शारीरिक सत्ता से सम्बद्ध हैं, इनमें स्वयं कर्तृत्व न होकर ग्राहक शक्ति विशेष है। भारतीय दार्शनिकों ने इसीलिए मन तथा बुद्धि के उपरान्त 'चित्त' को माना। 'चित्त' ही मनुष्य की 'चेतन-वृत्ति' है। यही मनुष्य को विचार, विवेक और कल्पना से युक्त करती है, विचार और विवेक तक मनुष्य का चेतन-मानस पदार्थ की जड़ सीमाओं से घिरा रहता है। कल्पना के लिए जड़-जगत् से अतिरिक्त चेतन-जगत् की सत्ता भी है।

और इसी चेतन-जगत् अथवा सत्ता की शक्ति और कर्तृत्व को कल्पना प्रकट करना चाहती है—वह स्वयं निर्माण में प्रवृत्त होना चाहती है, जो सामग्री ज्ञान-राशि के रूप में उसे प्राप्त है उसका वह

स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग करना चाहती है, वह बन्धनों को बन्धन-रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। चित्त की यही वृत्ति है जो मानस-क्षेत्र में 'अहंकार' को उभारती है और आध्यात्मिक क्षेत्र मे आनन्द की शोध करती है और आनन्द को मिलाती है। यहीं हम यह समझ सकते हैं कि मनुष्य के विकास और उसके जीवन को सजीव बनाने के लिए कल्पना अनिवार्य है।

किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से केवल मानसिक वृत्तियों का निरूपण ही पर्याप्त नहीं होता। भाव भी एक आवश्यक तत्त्व है, और उसे मनोविज्ञान में महत्त्व प्राप्त है। भावों में आरम्भिक स्थान औत्सुक्य अथवा उत्कण्ठा का होना चाहिए। ज्ञान अथवा अनुभव-सम्पादन के लिए इसके बिना तत्परता नहीं हो सकती। दूसरा स्थान भावों का है। भावोपरान्त 'राग'। यही 'राग' रस और अलौकिक आनन्द में परिणति पा लेता है। मन का सम्बन्ध उत्कंठा से होगा; बुद्धि का स्वार्थ-श्रेय से, 'स्व' से; चित्त की 'विचार' वृत्ति का भाव से, विवेक का विराग से और कल्पना का 'राग' से। इस दृष्टि से कल्पना मन और भाव दोनों से 'आनन्द' के लिए मानव को प्रस्तुत कर देती है।

कल्पना और आनन्द—कल्पना मनुष्य के ज्ञान और अनुभव की सामग्री से मनचाहे रूप प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में कल्पना एक पावन आध्यात्मिक कर्म करती होती है। वह ऐसे रूप गढ़ती है जो 'स्व' के होते हुए भी 'पर' के हो जाते है, और 'पर' के होकर भी 'स्व' के होने का दावा करते हैं। कल्पना ही 'स्व' और 'पर' के बीच की भित्ति को ढहा देती है। यह 'स्व' का 'पर' में और 'पर' का 'स्व' में तादात्म्य और समाहार कर देती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है। यह बिना कल्पना के सम्भव नहीं। 'स्व' और 'पर' के तादात्म्य और समाहार का एक अर्थ है 'अहं' का 'परम' में विलीन हो जाना। कल्पना चित्त अथवा चेतन की सबसे प्रधान और प्रमुख वृत्ति है, सब वृत्तियों से ऊपर, अपने सृजनशील चमत्कार से सभी वृत्तियों को अभिभूत कर

लेती है—'कल्पना' में मानव के मानस-व्यक्तित्व का सम्पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाता है और मानव में जो विधायक मौलिक वृत्ति है, उसका उत्कर्ष हो उठता है। इन दोनों से ही मानव का निजी व्यक्तित्व और उसका मोह व्युत्पन्न होता है, यही 'अहं' की स्थिति है और इसकी मानव की अनुभूति 'अहंकार'। 'अहंकार' में समस्त व्यक्ति समा जाता है। उधर 'अहं' से अतिरिक्त, मानव के निजी व्यक्तित्व से बाहर, जो 'पर' की पराकाष्ठा है वह तत्त्व 'परम-तत्त्व' है। व्यष्टि का चरम 'अहं'—समष्टि का चरम 'परम'। व्यष्टि का चरम 'अहं' जिस प्रकार मन-बुद्धि के सत् पर आरूढ़ चित के उत्कृष्टकरण पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार सृष्टि का—समष्टि का 'परम' भी प्रकृति के सत् और पुरुष के चित के ऊपर 'आनन्द' है, नीचे निरानन्द। सत् की भूमि निरानन्द है, वह तो मात्र धर्म से धारण की हुई है—कर्तृत्व और निर्माण मे जो 'अहं-परं' की अभिव्यक्ति का 'आनन्द' है वहाँ नहीं। अतः 'अहं' व्यष्टि के 'आनन्द' का पर्याय है—जो सत्-व्यापी मन—बुद्धि से उपार्जित संस्कार—परिभाषाओं से आवृत है। कल्पना मन और बुद्धि की इस जड़ता को उच्छिन्न करके 'अहं' को 'परम' के 'आनन्द' मे और 'परम' के आनन्द को 'अहं' की पुटी में उँडेल देती है। तभी कवि रहस्य-भेद न करते हुए अवाक् कह उठता है।

'हेरन हार हिरान समुद्र समानो बुन्द में'—'अहं' से उसमें मुग्धता आती है, पर समष्टि का परम-सम्पर्क उसे आनन्द-विभोर कर देता है। यही कल्पना का यथार्थ पुरुषार्थ है।

• २० •

चेतना-प्रवाह

(श्री चन्द्रमौलि सुकुल)

मनुष्य जब तक जागता रहता है, और कभी-कभी सोते समय भी, अर्थात् स्वप्नावस्था में, उसको चेतना रहती है। हम कहते हैं कि पत्थर जड़ है और मनुष्य चेतन, अर्थात् मनुष्य सोच-विचार कर सकता है, उसे सुख-दुःख होते हैं, वह इच्छा करता है, स्मरण रखता और ध्यान देता है। ये ही सब चेतना के काम हैं और इनमें से हर एक को 'मनोवृत्ति' कहते हैं। मनोवृत्तियाँ मनुष्य के मन में आती, जाती और बदलती रहती हैं। एक क्षण में एक मनोवृत्ति हुई, तो दूसरे क्षण में दूसरी आ गई। अब देखना चाहिए कि मनोवृत्तियों के मुख्य लक्षण क्या हैं ?

चेतना की उपमा नदी से दी जाती है। जैसे नदी का प्रवाह अनवच्छिन्न अर्थात् लगातार होता है, वैसे ही चेतना का प्रवाह भी; उसमें बीच में अन्तर नहीं पड़ता। ऐसा नहीं होता कि मन में वृत्ति एक आकर समाप्त हो गई, तब कुछ अन्तर देकर दूसरी वृत्ति आई, किन्तु एक वृत्ति के रहते-रहते ही उसमें कुछ परिवर्तन होकर दूसरी वृत्ति हो जाती है। नदी में लहरें उठती हैं, और एक लहर की समाप्ति के पहले ही दूसरी लहर का प्रारम्भ हो जाता है, यही दशा मनोवृत्तियों की भी है। साधारण बोल-चाल में भी कहते हैं कि यह हमारे मन की लहर है। एक उदाहरण लीजिए—माली ने आकर आपके सामने गुलाब का फूल रख

दिया; उसकी शोभा देखकर आपको आनन्द हुआ, अर्थात् चित्त में यह वृत्ति पैदा हुई कि यह गुलाब का फूल बड़ा ही सुन्दर है। अब विचार कीजिए कि यह वृत्ति बिना किसी परिवर्तन के कितनी देर तक आपके मन में ठहर सकती है। कदाचित् आप कहें कि यह हमारी इच्छा पर अवलम्बित है। यदि हम चाहें तो दस-पन्द्रह मिनट क्या, घण्टे-आध घण्टे तक उसी फूल को देखते रहें और फूल की शोभा का विचार अपने मन मे स्थायी रखें। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। आपकी मनोवृत्ति क्षण-भर से अधिक---एकाध सैकण्ड से अधिक--नहीं ठहर सकती। आप फूल पर एक घण्टे तक दृष्टि रख सकते है, परन्तु मनोवृत्तियों में बराबर परिवर्तन होता जायगा। आपका ध्यान कभी उस फूल की पंखुड़ियों पर, कभी उसकी ललाई पर तथा कभी उसकी केसर पर जायगा; और, यदि आपने ध्यान की बागडोर तनिक ढीली कर दी, तो आपकी मनोवृत्तियाँ न जाने कहाँ-कहाँ पहुँच जायँगी। कभी आप उस फूल के पेड़ का स्मरण करेंगे, तब सोचेंगे कि यदि पेड़ में अधिक खाद दी जाती तो फूल और भी बड़ा होता। तब सोचेंगे कि अब की बार अमुक अहीर की गोशाला से खाद लाएँगे। अहीर का स्मरण आते ही आपके मन में उसके पुत्र-शोक की लहर उठेगी और आप दुखी होंगे। उसी प्रसंग मे किसी और का स्मरण आएगा, जिसको उसी प्रकार का दुःख पड़ा हो। इसी प्रकार विचारों का सिलसिला बराबर लगा रहेगा।

अब, मान लीजिए, जिस समय माली फूल लाया था, वहाँ पर कई आदमी बैठे थे। फूल को देखकर आपके मन में तो उपर्युक्त वृत्तियाँ पैदा हुई; परन्तु और आदमियों की क्या दशा हुई? सबके मन में एक ही प्रकार की वृत्तियाँ न उठी होंगी। उसी फूल को देखकर किसी को गुलाब के इत्र का खयाल आया होगा, फिर उससे जौनपुर या कन्नौज का खयाल आया होगा—जहाँ इत्र के कार्यालय है। जौनपुर से गोमती नदी का, तब गंगा नदी का, तब गंगा नदी में किसी समय

अपने स्नान करने का, स्नान के समय विद्यमान किसी मित्र का, तब उस मित्र की चिट्ठी न आने का, तब उसका कुशल-समाचार जानने के लिए पत्र लिखने का खयाल आया होगा और विचारों की लड़ी इस प्रकार जारी रही होगी।

तीसरे आदमी को वही गुलाब का फूल देखकर कमल का, तब किसी महात्मा के चरण-कमलों का, तब उस महात्मा के उपदेशों का, तब उपदेशमय पुस्तकों का, तब पुस्तकों की मँहगाई का, तब यूरोप के महासमर का क्रम-क्रम से स्मरण आया होगा, और विचारों की शृङ्खला अविच्छिन्न चली गई होगी।

इसी प्रकार उस समय जितने आदमियों ने फूल देखा होगा, सबके मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ आई होंगी, और अपनी-अपनी रीति से जमी रही होंगी। यद्यपि मनोवृत्तियों के उठने की रीति सब आदमियों के लिए समान ही थी, अर्थात् एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति का पैदा होना और किसी आदमी की सब वृत्तियों का लगातार एक सिलसिले में रहना।

अब चेतना के मुख्य लक्षणों का सारांश देखिए :

चेतना की जो वृत्ति होगी, वह किसी की वृत्ति अवश्य होगी। वृत्तियाँ वायुमंडल में इधर-उधर उड़ती नहीं फिरतीं, किन्तु चेतना वाले किसी प्राणी की वृत्तियाँ होती है।

प्रत्येक प्राणी की मनोवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों की मनोवृत्तियों से अलग होती हैं। आपकी मनोवृत्तियाँ आपके मन में हैं, मेरी मेरे मन में, देवदत्त की देवदत्त के मन मे, यज्ञदत्त की यज्ञदत्त के मन में। हाँ, यह सम्भव है कि किसी वस्तु को देखकर आपकी और मेरी मनोवृत्तियों का सिलसिला किसी अंश में समान हो, परन्तु आपकी मनोवृत्तियों से मेरी मनोवृत्तियों का सम्बन्ध नहीं है। मनोवृत्तियों की पूर्ण समानता असम्भव है।

मनोवृत्तियाँ नदी की धारा के समान लगातार चलती हैं। उनमें अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु बराबर परिवर्तन होता जाता है। कोई भी

मनोवृत्ति एक ही रूप में एक क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती।

यद्यपि एक मनोवृत्ति का सम्बन्ध सैकड़ों मनोवृत्तियों से हो सकता है, तथापि पहली मनोवृत्ति का संकेत पाकर केवल एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है। एक ही गुलाब के फूल को देखकर अनेक आदमियों के मन मे भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पेड़ का स्मरण, इत्र का स्थान, कमल का स्मरण) पैदा हुई; परन्तु किसी के मन में सब वृत्तियाँ एक साथ नहीं आई। सारांश यह कि कोई भी मनोवृत्ति अपने से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी मनोवृत्तियों में से किसी एक को चुन लेती है, और वह चुनी हुई मनोवृत्ति उस पहली मनोवृत्ति के पश्चात् उपस्थित होती है।

अब मनोवृत्तियों के एक विशेष स्वभाव या धर्म का हाल जानने के लिए उदाहरण लीजिए। मै इस समय लिख रहा हूँ, मेरा ध्यान लिखने में ही लगा है। परन्तु दिन कुछ चढ़ चुका है। हवा बन्द है। गरमी हो रही है। गरमी के कारण शरीर को क्लेश पहुँच रहा है; लिखने में ध्यान रहने पर भी गरमी की थोड़ी-सी भावना मन में लगी है। घड़ी भी सामने रखी है और थोड़ी देर हुई कि उसमें देखा था साढ़े नौ बज चुके थे; तब से देर होने का खयाल भी मन के एक कोने में पड़ा है। पेड़ के नीचे बच्चे खेलते और चिल्लाते हैं, जिससे मेरे लिखने में विघ्न हो जाता है; और मेरे मन में कई मिनट से बहुत हल्की-सी यह भावना उठ रही है कि यह पैराग्राफ़ लिखकर बच्चों को यहाँ से हटा दूँ। गरमी, देर और चिल्लाने से मेरे लिखने में कुछ विघ्न तो अवश्य पहुँचा, परन्तु लिखने से ध्यान नहीं हटा। निदान, बच्चों की चिल्लाहट बहुत बढ़ी और लिखने से मेरा ध्यान उचट गया। तब मैंने डाँटकर बच्चों को वहाँ से हटाया। बीच में एक बार घड़ी की खटखटाहट से मेरा ध्यान कुछ बँट गया था, परन्तु मैंने उसी दम अपने ध्यान को सँभालकर फिर लिखने में लगा दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यद्यपि मेरी मनोवृत्ति के केन्द्र में लिखने का ध्यान था, तथापि केन्द्र के इर्द-गिर्द गरमी, देर और चिल्लाने

के भावों का हल्का-सा प्र भाव था। पर सबका प्रभाव बराबर नहीं था; किसी का कम, किसी का कुछ अधिक। लिखने, गरमी, देर, चिल्लाहट और सम्भवतः और भी दो-एक बातों के अंश मेरी मनोवृत्ति में अवश्य उपस्थित थे। विशेष ध्यान तो लिखने पर ही रहा; गरमी, देर और चिल्लाहट का बल गौण अर्थात् दूसरे-तीसरे दर्जे का था। परन्तु इन गौण बातों में भी कभी एक का बल अधिक हो जाता था, कभी दूसरी का। एक बार घड़ी की खटखटाहट ने लिखने की वृत्ति को केन्द्र से बाहर निकाल दिया और स्वयं विचार के केन्द्र पर अधिकार कर लिया। परन्तु यह अधिकार देर तक न रह सका। कारण, लिखने का विचार केन्द्र से दूर नहीं भागा था, और दूसरे ही क्षण उसने अपना अधिकार फिर से स्थापित कर लिया। इसी प्रकार बच्चों की चिल्लाहट ने भी एक बार बड़े बल के साथ ध्यान का केन्द्र ले लिया।

सारांश यह कि हर एक मनोवृत्ति में एक ही साथ कई विचार रहा करते हैं, परन्तु सबका बल बराबर नहीं होता। जिसका बल सबसे अधिक होता है, अर्थात् जो विचार ध्यान के केन्द्र में रहता है उसी के नाम से वह मनोवृत्ति कही जाती है। परन्तु इन विचारों में बड़ा परिवर्तन होता रहता है। कभी केन्द्र का विचार केन्द्र ही में रहता है और दूर वाले विचारों के बल में परिवर्तन हो जाता है। कभी केन्द्र वाले विचार को केन्द्र-स्थान से हटाकर वहाँ पर कोई अन्य विचार आ जाता है। मन की दशा किसी अराजक देश के समान है। जहाँ जिसका अधिक बल हुआ, वही गद्दी पर बैठ गया और अपने अनुकूल लोगों को उसने मन्त्री, सदस्य, कोषाध्यक्ष आदि बना लिया। इन सभासदों में भी कभी किसी का बल अधिक हो गया और कभी किसी का। फिर, यदि इन सभासदों में से किसी ने या अन्य किसी ने देखा कि मेरा बल अधिक है, तो उसने गद्दी छीन ली, सभासद वैसे-के-वैसे ही बने रहे, या उनके अधिकारों में परिवर्तन हो गया, कुछ निकाल अथवा बदल दिये गए, या सब-के-सब अलग कर दिये गए और उनकी जगह दूसरे नियत किये गए।

अध्यापक के काम में सबसे बड़ी कठिनता यही होती है कि बच्चे के मन मे एक ही साथ बहुत से विचार आते हैं। कभी एक विचार का बल अधिक हो जाता है, कभी दूसरे का। परिणाम यह होता है कि बच्चे का मन जमकर किसी एक ही विचार पर नहीं लगता। तब कहते हैं कि अमुक बच्चे का ध्यान पढ़ने में नहीं जमता। इस दशा में अध्यापक का लक्ष्य यह होता है कि जिस विषय को पढ़ाना चाहता है, उसमें बच्चों की ऐसी रुचि पैदा कर दे कि उस रुचि के प्रभाव से बच्चों का ध्यान दूसरे विषय पर जा ही न सके। ऐसे अध्यापक का काम उस सेनापति के काम के समान होता है, जो शत्रु-सेना को दो ओर पहाड़ियों और तीसरी ओर जल से घिरे हुए स्थान मे जाने के लिए विवश करता और चौथी ओर से उस पर स्वयं आक्रमण करता है। शत्रु को तब किसी ओर भागने का अवकाश नहीं रहता; इस दशा में सेनापति को विजय अवश्य प्राप्त होती है। इस सेनापति की चतुरता इतनी नहीं होती कि वह शत्रु-सेना को घिरे हुए स्थान में ले जाता है, किन्तु वह ऐसा उपाय भी करता है कि शत्रु-सेना स्वयं ही उस स्थान पर जाती है और यह नहीं समझती कि उस स्थान पर उसका जाना उस सेनापति की चतुरता का परिणाम है। इसी प्रकार चतुर अध्यापक कभी बच्चों पर यह नहीं प्रकट करता कि मै तुम्हें पाठ के विषय के सिवा अन्य विषय पर ध्यान न देने दूँगा। परन्तु वह ऐसा उपाय करता है कि जिस विषय को वह चाहता है, उसके अलावा कोई भी दूसरा विषय बच्चे नहीं सोच सकते। वह उस विषय में बच्चों की इतनी रुचि पैदा कर देता है कि वे तीन ओर से घिर जाते हैं और चौथी ओर से अध्यापक अभीष्ट विषय को बड़े उत्साह के साथ उपस्थित करता है। ऐसे पाठ का प्रभाव बच्चों के हृदय से आजन्म नहीं मिटता।

चेतना की उपमा नदी से दे ही चुके हैं। कल्पना कीजिए कि किसी नदी का पाट सौ हाथ है और उस पाट की औसत गहराई १० हाथ। उसी नदी का पाट कुछ दूर आगे चलकर २५ हाथ रह जाता

है। अब यहाँ की औसत गहराई कितनी होगी ? बहाव की गति मे क्या परिवर्तन होगा ? इसी प्रकार किसी मनोवृत्ति का फैलाव जितना अधिक होगा, उसकी गम्भीरता उतनी ही कम होगी। मन की धारा को समेटकर थोड़ी ही चौड़ाई में बहाइए, तो उसकी गहराई अगाध हो जायगी। सरल शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अन्य विषयों से रोककर केवल एक ही विषय पर चित्त जमाया जाय, तो वह विषय बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाता है। चित्त 'एकाग्र' करने का यही अर्थ है; इसी 'चित्त-वृत्ति-निरोध' का नाम योग है, इसी का नाम 'संकेन्द्रण' है, और इसी को ध्यान कहते है। इसी के साधने वाले सच्चे योगी है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं; इसी से मनुष्य पूरा मनुष्यत्व पाता है।

मनोवृत्तियों में तीन प्रकार की बातें रहा करती हैं—क्षोभ, ज्ञान और इच्छा। सुख, दुःख, सन्तोष, क्रोध, प्रेम, भय, त्रास आदि क्षोभ के विषय हैं, अर्थात् इनसे मन की ऐसी दशा हो जाती है, मानो वह काँपने लगा हो। चीजों के देखने, सुनने, छूने, चखने और सूँघने से उनका जो हाल मालूम होता है, वह ज्ञान है। स्मरण, तर्क, भावना आदि भी ज्ञान ही के कारण है। इच्छा का अर्थ स्पष्ट है। इसमे कुछ-न-कुछ करने की प्रवृत्ति होती है। ध्यान, इरादा आदि इसके विषय है।

यद्यपि क्षोभ, ज्ञान और इच्छा के अंश हर मनोवृत्ति में मिले रहते हैं, तथापि उनमे से किसी-न-किसी की प्रधानता रहती है; और उसी प्रधानता के अनुसार उस मनोवृत्ति को क्षोभ-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति या इच्छा-वृत्ति कहते है। क्षोभ, ज्ञान और इच्छा मे परस्पर विरोध होता है, अर्थात् हर एक चाहता है कि मै ही प्रधानता पाऊँ। कल्पना कीजिए कोई लड़का खेलते समय गिर पड़ता है और उसके पैर मे मोच आ जाती है। मोच के कारण उसे पीड़ा होती है (क्षोभ); वह उठकर देखता है तो उसे मालूम होता है कि पैर में चोट आ गई है (ज्ञान); वह इच्छा करता है कि पीड़ा बन्द करने के लिए पैर में दवा लगा दी

जाय (इच्छा); अध्यापक भी वहाँ खड़ा है। उसके मन में भी तीनों तरह की वृत्तियाँ आती है—मोच खाया हुआ पैर देखकर (ज्ञान), उसे दया आती है और दुःख होता है (क्षोभ) और वह तत्क्षण ही पैर को रूमाल से कसकर बाँध देता है (इच्छा)। अन्य लोगों को भी पैर देखने से ज्ञान, सहानुभूति के कारण क्षोभ और पैर के शीघ्र अच्छे हो जाने की आकांक्षा से इच्छा होती है। अब देखना चाहिए कि किसके मन में कौनसी वृत्ति प्रधान है। गिरने वाले लड़के के पैर में पीड़ा है, इसलिए उसके मन में अन्य वृत्तियों के होते हुए भी क्षोभ की प्रधानता है। अध्यापक के मन मे तीनों वृत्तियाँ हैं; परन्तु प्रधानता इच्छा की है, क्योंकि वह चाहता है कि पैर शीघ्र ही अच्छा हो जाय और रूमाल से पैर बॉधता है। अन्य लोगों के मन में यद्यपि क्षोभ और इच्छा के अंश हैं, तथापि ज्ञान की प्रधानता है, अर्थात् उनके लिए इतना जानना बड़े महत्त्व का है कि कौन गिरा, कैसे गिरा और कहाँ चोट लगी।

इससे स्पष्ट है कि स्मरण, भावना, अवधान, ध्यान, स्वभाव आदि जिन विषयों का वर्णन पुस्तकों मे अलग-अलग अध्यायों मे बाँट दिया जाता है, वे विषय यथार्थ मे इतने अलग-अलग नहीं हैं। वे ऐसे नहीं हैं, जैसे मनुष्य के शरीर मे हाथ, पैर, सिर और धड़ अलग-अलग होते हैं; किन्तु ऐसे हैं, जैसे फूल मे रंग, गन्ध, आकार आदि। यदि फूल का रंग अलग करके देखना चाहें, तो असम्भव है; यदि उसकी गन्ध को उससे पृथक् करके सूँघना चाहें, तो असम्भव है; यदि उससे उसके आकार को अलग करके जानना चाहें, तो असम्भव है; इसी प्रकार ज्ञान, क्षोभ और इच्छा के समूह ही का नाम मन है। मन से पृथक् करके कोई भी वृत्ति देखी नहीं जा सकती।

तो, वैज्ञानिक लोग इन वृत्तियों का किस तरह पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते है? अवधान के द्वारा। यदि हम फूल के अन्य गुणों से हट-कर केवल उसके रंग पर मन जमाएँ, तो रंग का ज्ञान हमको होता है; यदि केवल उसकी गन्ध पर मन एकाग्र करे, तो गन्ध की प्रतीति होती

है। इसी प्रकार मन की वृत्तियों पर भी अलग-अलग ध्यान जमाया जा सकता है, और उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है, मानो उनसे और अन्य वृत्तियों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। यथार्थ में तो मन की वृत्तियों में बड़ा सम्बन्ध है।

• २१ •

इच्छा-शक्ति

(श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव)

हम अपनी इच्छा-शक्ति को किस प्रकार प्रबल बना सकते है ? मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि शारीरिक गठन या स्वास्थ्य का इच्छा-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सोचना कि दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति को नहीं बढ़ा सकता—गलत है। स्वयं अपने देश में ही देखिए, महात्मा गांधी की इच्छा-शक्ति का लोहा कौन नहीं मानता, किन्तु शारीरिक बल उनका नगण्य ही था। इसके प्रतिकूल स्वस्थ और भीमकाय कितने ही व्यक्ति अपनी इच्छाओं के गुलाम बने डोलते फिरते है; न इनका कोई लक्ष्य है, न कोई सिद्धान्त। बिना पतवार की नौका की भाँति इनका उद्देश्य-विहीन जीवन वायु के प्रत्येक झकोरे के साथ अपनी दिशा बदलता रहता है।

इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन तथा इसका विकास तभी स्पष्ट होता है जब कोई लक्ष्य या ध्येय सामने हो। बल्कि हम यह कह सकते है कि इच्छा-शक्ति का आधार ही लक्ष्य या ध्येय है। लक्ष्यहीन जीवन में इच्छा-शक्ति के प्रदर्शन के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा मौजूद नहीं होती। इस प्रेरणा के अभाव मे जीवन की शक्तियाँ विघटित होकर व्यर्थ नष्ट होती रहती है, उनसे कोई फल प्राप्त नही होता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वाष्प इंजिन के ब्वायलर में यदि अनेक सुराख हों तो भाप इन सुराखों के रास्ते बाहर निकलकर व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

जीवन में जिस किसी ने स्पष्ट लक्ष्य चुन लिया है वह अनजाने भी अपनी इच्छा-शक्ति के विकास मे सहायता पहुँचाता है। लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए—लक्ष्य का स्तर ऊँचा हो या नीचा, यह एक गौण बात है। उदाहरण के लिए तड़के जाड़े की सुबह में भी सप्ताह मे छः दिन बेचारा क्लर्क बिस्तर छोड़कर ६।। बजे की ट्रेन इसलिए पकड़ता है कि उसने यह निश्चय कर लिया है कि वह अपने परिवार को भूखों न मरने देगा। अतः उसे अपने ऑफिस में ठीक ९ बजे पहुँचने के लिए ६।। की गाड़ी पकड़नी होगी। सच तो यह है कि एक शराबी भी कुछ हद तक इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन करता है। शराब पीने के लिए उसे सम्भवतः इस ध्येय से प्रेरणा मिलती है कि वह शराब के नशे में अपनी परेशानियों को खो सकेगा। मान लीजिए कानून की आज्ञा से शराब की दुकाने रात को २ से ३ बजे तक खुलने लगें, तो उस वक्त भी शराबी व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति के ज़ोर से जाड़े की ठिठुरती रात में उठकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन दुकानों पर जाया करेंगे। अतः इन शराबियों की इच्छा-शक्ति में किसी प्रकार का दोष नहीं है, दोष केवल लक्ष्य में है।

अक्सर ऐसे व्यक्ति के बारे में, जो जीवन के हर क्षेत्र में असफलता ही प्राप्त करता है, लोग कहते हे कि उसमे इच्छा-शक्ति का नितान्त अभाव है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति के पास कोई विशिष्ट लक्ष्य ही मौजूद नहीं है, जिसके आधार पर वह अपनी इच्छा-शक्ति का निर्माण कर सके। लक्ष्य के अभाव में ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति के विकास के लिए प्रेरणा नहीं मिलती। जब तक मनुष्य को जीवन में ध्येय दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक वह इच्छा-शक्ति के निर्माण के लिए उचित अवसर भी नहीं प्राप्त कर पाता।

अतः इच्छा-शक्ति के विकास के लिए सर्वप्रथम शर्त है जीवन में अपने लिए एक उचित लक्ष्य—ध्येय निश्चित करना। लक्ष्य जितना ऊँचा होगा उतनी ही अधिक उसकी इच्छा-शक्ति भी होगी। लक्ष्य के

चुनाव के लिए हमें महान् व्यक्तियों की जीवनियों पर दृष्टि डालनी होगी। ऊँचे लक्ष्य हमें यहीं से प्राप्त हो सकते हैं। लक्ष्य का चुनाव किसी अन्य व्यक्ति के दबाव के कारण नहीं होना चाहिए। स्वयं अपने मन से ही अपना लक्ष्य जब आप चुनेंगे तभी उसकी प्राप्ति के लिए आपको भीतर से प्रेरणा मिलेगी। यह लक्ष्य उस हालत में आपके समूचे व्यक्तित्व को बाँधकर उसे अपनी ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करेगा। साथ ही यह भी जानना जरूरी है कि लक्ष्य जितना ऊँचा होगा उतनी अधिक शक्ति उससे हमें हासिल होगी। निम्न स्तर का लक्ष्य हमारे व्यक्तित्व को एक संकुचित क्षेत्र के अन्दर ही विकसित होने का अवसर देता है। इस क्षेत्र से बाहर हम अपनी इच्छा-शक्ति को निरा अपंगु पाते हैं। व्यक्तित्व और इच्छा-शक्ति के सर्वतोमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने लक्ष्य को धर्म और नैतिकता की कसौटी पर कसकर पहले देख लें कि वह खरा उतरा है या नहीं। वरन् स्वार्थपूर्ण लक्ष्य को पकड़कर चलने में इच्छा-शक्ति का केवल एकांगी विकास हो पाता है जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी बन जाता है—वास्तविक सुख और आनन्द से वह वंचित रहता है।

किन्तु लक्ष्य के चुनाव में अपनी शारीरिक और बौद्धिक क्षमता का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कौन नहीं चाहता कि वह केन्द्रीय गवर्नमेंट की कैबिनेट का प्रधान मन्त्री बन सके अथवा वह राममूर्ति सरीखा बलवान बन जाय। किन्तु ये सम्भावनाएँ हर किसी के बूते के अन्दर नहीं हैं। अतः लक्ष्य निश्चित करते समय यह देख लेना चाहिए कि लक्ष्य इतना ऊँचा तो नहीं कि वह आपकी पहुँच से बाहर हो। साथ ही लक्ष्य का स्तर एकदम नीचा भी नहीं होना चाहिए। लक्ष्य यदि अत्यधिक ऊँचा हुआ तो फल यह होगा कि उस लक्ष्य तक आप कभी न पहुँच पाएँगे और नाहक हर कदम पर आपको निराशा मिलेगी जो आपके आत्म-विश्वास को डिगाने का कारण बनेगी। इसके प्रतिकूल एकदम साधारण लक्ष्य स्थिर करने पर उसकी प्राप्ति मे आपको श्रम

बिलकुल ही न करना पड़ेगा, फल यह होगा कि इच्छा-शक्ति को विकास के लिए अवसर न मिल पाएगा, वह कुण्ठित पड़ी रह जायगी ।

लक्ष्य-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे अन्दर आत्मविश्वास की मात्रा पर्याप्त अंश में मौजूद हो। आत्मविश्वास के अभाव में इच्छा-शक्ति मानो दबी-दबी-सी रह जाती है। 'मैं तो अब कुछ नहीं कर सकता' अथवा 'मेरी किस्मत ही खराब है' इस तरह की हीन भावनाएँ हमें कभी ऊपर उठने नहीं देतीं। सम्भव है किसी क्षेत्र-विशेष मे आपको गहरी असफलता मिली हो, किन्तु केवल इस बात से हतोत्साह हो जाना निरी मूर्खता है। आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि हर व्यक्ति के अन्दर किसी विशेष क्षेत्र में आपकी प्रतिभा चमक सकती है और फिर उसी क्षेत्र में अपना कदम आगे बढ़ाइये। इसके लिए अगर आपको अपना पेशा बदलना पड़े, नया लक्ष्य ढूँढ़ना पड़े तो इसमें तनिक भी संकोच न करिए। कोल्हू के बैल की तरह वृत्त में आँख मूँदकर चक्कर मत काटिए। मनुष्य को सोचने की शक्ति प्रकृति ने इसलिए प्रदान की है कि वह अपनी उन्नति के लिए इसका इस्तेमाल करे।

अपना क्षेत्र पहचानने के बाद और लक्ष्य स्थिर करने के उपरान्त आपको अपना प्रयोग आरम्भ करना है—केवल दिवास्वप्न देखने से काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी यदि यह निश्चय करता है कि उसे परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करना है, तो उसे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कमर कसकर काम करना होगा। नियमपूर्वक, एक नियत स्थान पर और नियत समय पर उसे अपनी पुस्तकों का अध्ययन करना होगा। हममें से बहुत कम लोग इस बात के महत्त्व को पहचानते हैं कि समय की पाबन्दी हमारे काम को निश्चित रूप से आगे बढ़ाती है। यूरोप के बड़े-बड़े लेखक, जैसे स्वर्गीय श्री एच० जी० वेल्स, कभी इस बात के मुहताज नहीं होते थे कि जब पुस्तक या लेख लिखने की मौज आए तभी वे कलम हाथ में लेंगे। वास्तव में प्रतिदिन नियत समय

पर वे अपने अध्ययन के कमरे में पहुँच जाते हैं और कुरसी पर बैठकर लिखना आरम्भ कर ही देते हैं।

किसी भारी काम को हाथ मे लेने पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार निश्चित कर लीजिए कि प्रतिदिन इतना काम अवश्य आप निपटा लेंगे। फिर पक्का इरादा कर लीजिये कि चाहे जो-कुछ भी हो, प्रतिदिन का काम आप समाप्त अवश्य करेंगे। इस स्कीम को यदि आपने अपना लिया तो निश्चय जानिए—अनायास आपकी इच्छा-शक्ति मे दृढ़ता आती जायगी।

लक्ष्य-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने मे सबसे बड़ी बाधा आपकी बुरी आदतें डालेंगी। अतः इन आदतों को उखाड़ फेंकना होगा। एक सुसंगठित योजना बना लीजिए कि इस महीने मे आपको अपनी अमुक आदत पर विजय प्राप्त करनी है, फिर हर समय जागरूक बने रहिए कि आप पर वह आदत हावी तो नहीं हो रही है। मान लीजिए शाम को आपको मद्य-पान की टेव लग गई है, तो इस बुरी आदत को हटाने के लिए केवल यही पर्याप्त न होगा कि शाम को आप अपने कमरे मे बैठकर अपनी प्रतिज्ञा दुहराते रहें कि आप अब शराब न छुएँगे। इससे तो व्यर्थ मे आपके मस्तिष्क मे संघर्ष चलेगा, जिसकी प्रतिक्रिया सम्भवतः हानिप्रद ही होगी। वांच्छनीय यह है कि उस समय आप किसी ऐसे काम मे लग जाइए जिसमे आपकी विशेष रुचि हो। उदाहरण के लिए, आप संगीत में, शतरंज के खेल मे अथवा फोटोग्राफी में मन लगा सकते हैं। ऐसा करने से आप मानसिक संघर्ष की प्रतिक्रिया से बच जायँगे। प्रतिदिन की विजय आपकी इच्छा-शक्ति को धीरे-धीरे ऊँचाई की ओर ले जायगी। इस प्रकार आप अपनी कुटेव से छुटकारा पाएँगे, साथ ही इच्छा-शक्ति के विकास मे भी कामयाबी हासिल कर सकेंगे।

जिस प्रकार टूर्नामेंट में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से खिलाड़ी प्रतिदिन दौड़ तथा अन्य प्रतियोगिताओं के लिए एक निश्चित योजना के अनुसार ट्रेनिंग हासिल करता है, उसी प्रकार आपको भी प्रतिदिन अभ्यास

करना होगा। अपने लिए एक सीमा निर्धारित कर लीजिए कि मुझे अधिक नहीं तो इतना काम आज अवश्य पूरा करना है। जैसे सिगरेट के आप अभ्यस्त है तो सिगरेट पीने की आदत से छुटकारा पाने के लिए यदि अचानक आप इरादा कर लेते है कि बस आज से सिगरेट छुएँगे नहीं तो ऐसी हालत मे बहुत सम्भव यह है कि आप अपने इस प्रण को निबाह न सकें और इसके बदले आपको निराशा मिले, जो आपकी इच्छा-शक्ति को और भी निर्बल बना देगी। ऐसी दशा में आप अपने लिए केवल इतना ही उत्तरदायित्व निश्चित करें जितना आप निबाह सके। उदाहरण के लिए, सिगरेट की कुटेव से बचने के लिए आप कुछ इस तरह का निश्चय करे कि इस वक्त से एक घण्टे के भीतर मै सिगरेट नहीं जलाऊँगा, चाहे जो-कुछ भी हो। निश्चय ही आप अपने इस छोटे से प्रण को निबाह सकेंगे और आपके अन्दर आत्मविश्वास को एक नया बल मिलेगा कि आप अपनी इच्छा पर काबू पा सकते है। धीरे-धीरे इस संयम की अवधि को आप बढ़ा सकते है। एक सप्ताह के उपरान्त आप तय कर सकते है कि अमुक समय से दो घण्टे के भीतर आप किसी भी दिन सिगरेट न पिया करेंगे। क्रमशः इस प्रकार संयम की अवधि बढ़ाकर आप सदैव के लिए अपनी इस आदत से छुटकारा पा सकते है।

अमरीका के एक विशेषज्ञ ने, जिसने व्यावहारिक मनोविज्ञान मे अनेक अनुसन्धान किये है, इच्छा-शक्ति के विकास के लिए एक अच्छी युक्ति बतलाई है। आप दिन के किन्हीं भी दो घण्टों को अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग के लिए चुन लीजिये और इन दो घण्टों मे समय-विभाजन करके आप अपने लिए एक निश्चित कार्यक्रम बना लीजिए, जिसमे एक-एक मिनट का हिसाब हो। फिर लगकर दो-तीन महीने तक बिना किसी अपवाद के इस कार्यक्रम का अक्षरशः पालन कीजिये। सम्भवतः इस नियत कार्यक्रम से आपको विरत करने के लिए इन दो-तीन महीनों में कितने ही प्रलोभन आएँगे, किन्तु उनमें से प्रत्येक पर विजय प्राप्त करना आपकी इच्छा-शक्ति का परम ध्येय होगा। बाद में प्रयोग की अवधि

को श्राप दो घण्टे से बढ़ाकर तीन या चार घण्टे कर सकते हैं। इस प्रकार मानो इच्छा-शक्ति को व्यायाम का श्रवसर देकर श्राप उसे विकसित होने का श्रवसर देते हैं।

सुविकसित इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति ही संघर्ष के इस श्राधुनिक युग में श्रपने पाँव मजबूती से टिका सकता है—जीवन में सफलता प्राप्त करने की क्षमता केवल ऐसे ही व्यक्तियों मे पाई जाती है।

• २२ •

सुख की खोज

(डॉक्टर सम्पूर्णानन्द)

राजनीति-शास्त्र भी विज्ञान है। यह सच है कि वह रसायन की भाँति भौतिक द्रव्यों का विज्ञान नहीं है। इसलिए उसमें भौतिक विज्ञानों की भाँति नियतता नहीं है। पत्थर के सभी टुकड़े एकसे होते हैं। यदि एक टुकड़ा कहीं पड़ा है तो हम जानते है कि वह अपने से कभी न हिलेगा। बाह्य परिस्थितियाँ ही उसमें गति ला सकती हैं। अतः उनको जान लेने से हम जान सकते है कि उस पत्थर की किस समय क्या अवस्था होगी और यह भी कह सकते है कि पृथ्वी के सभी टुकड़ों की वैसी परिस्थिति मे वैसी ही स्थिति होगी। परन्तु जीव-धारियों मे ऐसी समता नहीं होती। एक ही परिस्थिति में दो कीड़े भी कभी-कभी विभिन्न आचरण करते हैं। मनुष्यों में तो और भी भेद देखा जाता है। सबके संस्कार एकसे नहीं होते। इसलिए बाहरी बातों का प्रभाव सब पर एकसा नहीं पड़ता। संस्कारों की विषमता के अनेक कारण हो सकते है, जैसे कुल-भेद, शिक्षा-भेद, सम्पत्ति-भेद। फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व जन्मों में किये हुए कर्मों के परिणाम से सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। जो लोग पूर्व जन्म का अस्तित्व और कर्मवाद की सत्यता नहीं मानते वे भी यह तो देखते ही है कि सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती। भेद क्यों होता है इसका ठीक-ठीक कारण वे नहीं बतला सकते। अस्तु, कारण कुछ भी हो, बुद्धियों मे भेद होता है; अतः

बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव सब पर एकसा नहीं पड़ता। इसलिए सब लोग एकसा व्यापार नहीं करते। इसलिए जीव-सम्बन्धी विज्ञानों में वह नियतता नहीं होती जो भौतिक विज्ञानों में होती है। इतना भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक ही व्यक्ति समान परिस्थितियों में हर समय एकसा आचरण करेगा। इतना ध्यान मे रखते हुए हमको राजनीति-विज्ञान का अध्ययन करना है।

जब यह शास्त्र विज्ञान है तो इसके सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ढंग से ही निर्धारित होने चाहिएँ। वैज्ञानिक ढंग है कि पहले उस जाति की वस्तुओं का आचरण देखा जाय, फिर उस आचरण के पीछे जो नियम काम करता दीख पड़े वह सिद्धान्त-रूप मे बाँधा जाय। पहले वस्तुओं का गिरना देखा गया, फिर आकर्षण-सिद्धान्त कायम किया गया। हजारों मनुष्यों को मरते देखकर यह सिद्धान्त निकला कि मनुष्य-मात्र की मृत्यु होती है। कभी-कभी लोग अपनी बुद्धि के बल पर पहले सिद्धान्त बना लेते हैं, फिर वस्तुओं के आचरण को उसके अनुसार मिलाने की चेष्टा करते हैं। यह तरीका गलत, अवैज्ञानिक है। अतः हमको राजनीति मे भी इसी तरीके से काम करना चाहिए। पहले मनुष्यों के आचरण को देखे, फिर सिद्धान्त निश्चित करें।

हम देखते है कि लोग रुपया-पैसा चाहते है, बाल-बच्चे चाहते है, समाज में अच्छा स्थान चाहते है, स्वास्थ्य चाहते है और यदि वे आस्तिक है, तो परलोक में अच्छी गति चाहते है। शास्त्रीय भाषा मे मनुष्य के चार पुरुषार्थ है—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन्हीं की प्राप्ति के लिए वह सारे जन्म प्रयत्न करता है। किसी की प्रवृत्ति इनमें से एक पुरुषार्थ की ओर अधिक झुकती है, किसी की दूसरे की ओर। परन्तु प्रायः सभी मनुष्य यथासम्भव इन चारों के खोजी होते है। जब यह दीख पड़ता है कि सब बाते युगपत् नहीं मिल सकतीं तो फिर अपने-अपने संस्कार के अनुसार लोग एक को पकड़ते है और शेष को छोड़ देते है। यह बात भी देखने में आती है कि प्रायशः सबका उद्योग

यही होता है कि मेरा उद्देश्य सिद्ध हो, दूसरे का काम बिगड़ जाय। तद्विपरीत चाहने वाला कोई विरला ही होता है। पर जब हितों का संघर्ष होता है और यह प्रतीत होने लगता है कि बिना दूसरे का काम बिगड़े मेरा काम नहीं बन सकता तब साधारण मनुष्य इसके लिए भी तैयार हो जाता है। किसी-किसी मे यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाती है कि उनके लिए दूसरे का काम बिगाड़ना मुख्य और अपना काम बनाना गौण लक्ष्य रह जाता है।

परन्तु इन पुरुषार्थों पर ध्यान देने से यह साफ दीख पड़ता है कि इनकी तह मे एक चीज़ छिपी है। वह है सुखैषणा—सुख की चाह। कोई भी मनुष्य हो, किसी भी अवस्था मे हो, वह सुख चाहता है। सुख केवल दुःख की निवृत्ति का नाम नहीं है, वह एक स्वतन्त्र अनुभूति है। मनुष्य अपने प्रत्येक काम द्वारा इसी अनुभूति को ढूँढ़ता है। रुपया-पैसा, सन्तान, पद यह सब सुख के साधन हैं, इसीलिए इनका संग्रह किया जाता है। स्वतः इनमें उपादेयता नहीं है। ये चीजें जब किसी अवस्था में सुख देती हैं, उस समय उनका संग्रह करने को जी चाहता है, अन्यथा उनकी ओर से जी हट जाता है। जो लोग परलोक की ओर झुकते हैं वे भी सुख ही चाहते हैं। कोई उस सुख को परम सुख, ब्रह्मानन्द कहता है, कोई ईश्वर साक्षात्कार-जनित आनन्द कहता है। इससे यह परिणाम निकला कि हमारे हर प्रयास की प्रेरणा सुखैषणा से मिलती है।

इस खोज में हमको सदा सफलता क्यों नहीं मिलती, हम सदैव क्यों नहीं सुखी रह पाते ? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक कारण तो यह है कि हमको सुख की पहचान नहीं है। हम अज्ञान से अभिभूत हैं। न तो हमको बाहरी जगत् की पूरी-पूरी जानकारी है, न हमको अपने चित्त की वृत्तियों की पहचान है। एक ही साथ चित्त चारों ओर दौड़ता है, पर हममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि सब वासनाओं की एक साथ तुष्टि कर सकें। फल यह होता है कि असन्तोष, असुख बना ही रहता है। अज्ञान के कारण हम जिन वस्तुओं को सुखद समझकर पकड़ते हैं उनमें

से अधिकांश दुःखद ही निकलती ह । किसी से तो प्राप्त करके ही चित्त को विराग हो जाता है, किसी से भोग-काल में जी ऊब उठता है, कोई भोग के पीछे विरस लगती है । फिर नये सुख की खोज आरम्भ होती है । इसी दौड़-धूप मे जीवन-लीला समाप्त हो जाती है ।

वेदान्त के आचार्यों का कहना है कि यह जगत् ब्रह्म है । ब्रह्म ही मिथ्या माया के संयोग से स्थावर-जंगम, चर-अचर, जड़-चेतन विश्व के रूप मे प्रतीत होता है । माया मिथ्या ही सही, पर जब तक उसका आवरण है तब तक तो जगत् की प्रतीति होगी, उसकी व्यावहारिक सत्यता मानकर ही चलना होगा । पानी मे न गिरना अच्छा होता, पर जब गिर ही पड़े तो यह कहने से काम नहीं चलता कि मैं पानी से पृथक् हूँ; तैरकर निकलना होगा, तब ही पृथकता सिद्ध होगी । इसी प्रकार 'जगत् मिथ्या है' कहना व्यर्थ का प्रलाप हैं । इस मिथ्या घेरे से निकलने का प्रयास करना होगा, अविद्या का आवरण हटाना होगा । अविद्या का पर्दा ज्यों-ज्यों दूर होगा त्यों-त्यों अपने असली रूप की अनुभूति होगी । अपना असली रूप सत् है, चित् है, आनन्द है । अविद्या के कारण इस आनन्दमयता का अनुभव नहीं होता, इसलिए सुख की खोज भीतर से उठती है । सुख की खोज, अपने स्वरूप की खोज, पतंजलि के शब्दों मे स्वरूप में 'अवस्थान' अपने वास्तविक रूप की अनुभूति की खोज है । इस खोज की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अविद्या को विद्या से बदला जाय, अर्थात् समुचित शिक्षा का प्रबन्ध हो और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें यह शिक्षा अबाध रूप से दी जा सके ।

सुख की प्राप्ति में इस बात से बड़ी बाधा पड़ती है कि सब लोग सुख के लिए दौड़ते हैं और इस दौड़ में प्रतिस्पर्धा होती है । ऐसा प्रतीत होता है कि भोक्ता बहुत हैं, भोग्य सामग्री कम है । सबकी यह इच्छा होती है कि मैं स्वाधीन रहूँ अर्थात् अपने सुख को सम्पन्न करने में मेरा मार्ग निष्कण्टक रहे, पर यह हो नहीं पाता । लोगों के मार्ग एक-दूसरे को

काटते हैं, इससे संघर्ष होता है। स्वाधीनता की खोज भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि सुख की खोज। मनुष्य की आत्मा वस्तुतः स्वतन्त्र है, अज्ञान उसका स्वभाव नहीं है, पर अज्ञान ने उसको जकड़-सा रखा है। वह उससे छूटना चाहता है। पूर्ण स्वाधीनता की अवस्था में संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि जब एक ही ब्रह्म-पदार्थ माया द्वारा नाना होकर प्रतीत हो रहा है तो पूर्ण स्वाधीनता अर्थात् पूर्ण ज्ञान की अवस्था में नानात्व रहेगा ही नहीं, फिर किसका किससे संघर्ष होगा। ज्यों-ज्यों विद्या मे वृद्धि होती जायगी त्यों-त्यों संघर्ष की सम्भावना कम होती जायगी। अभेद बुद्धि के उदय होने पर कौन किससे लड़ेगा? पर जब तक यह बुद्धि उदय नहीं होती—और इसका उदय होना कोई हँसी-खेल नहीं है—तब तक इस बात का प्रबन्ध करना होगा कि स्वाधीनता के आवेग से लोग लड़-भिड़कर ऐसी दुरवस्था न उत्पन्न कर दें जिसमें समाज ही नष्ट हो जाय और किसी की भी स्वाधीनता न बचे। यह तभी होगा जब स्वाधीनता तो हो पर उसके ऊपर नियन्त्रण रहे, प्रतिबन्ध रहे। जो पूरे आत्मसंयमी हैं वे तो अपने ऊपर आप ही नियन्त्रण कर लेंगे, पर इन लोगों पर बाहरी रोक-थाम लगाना आवश्यक होगा।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि साधारण जनता अज्ञान के वशीभूत होने पर स्वाधीनता की पात्र नहीं है, अतः उसका कल्याण इसी में है कि वह स्वाधीनता से वंचित रहे। कुछ थोड़े-से अधिकारी ही इस योग्य हैं कि वे स्वाधीन रहें। यह नीत्से के अतिपुरुषवाद का एक रूप हो गया। यह ठीक है कि सब लोग पूर्ण स्वाधीनता के पात्र नहीं हैं, पर यह भी अटल सत्य है कि बिना पानी में पाँव रखे तैरना नहीं आता। ज़िम्मेदारी, स्वाधीनता से ही स्वाधीनता की पात्रता देती है। स्वाधीन प्राणी से भूलें होंगी, पर भूलें ही उत्थान की सोपान हैं। स्वाधीनता मनुष्य का स्वभाव है। प्रकृति दबाई नहीं जा सकती। यदि राजनीतिक क्षेत्र में लोगों को पराधीन बनाकर रखा जायगा तो उनकी स्वाधीनता की प्रवृत्ति दूसरे प्रकार व्यक्त होगी—वह दुराचार, व्यभिचार के रूप में

फूटकर निकलेगी। इसके साथ ही जो लोग ऐसे पतित मनुष्यों पर शासन करेंगे उनके चरित्र का पतन हो जायगा। इसलिए अपात्रता के कारण मनुष्यों को स्वाधीनता से वंचित नहीं रखा जा सकता। स्वाधीनता का उपभोग करके गलती करने से ही लोग क्रमशः स्वाधीनता का सदुपयोग करना सीख जायेंगे, परन्तु नियन्त्रण रखना तो अनिवार्य तथा आवश्यक है।

ये दोनों बाते कैसे हों, अर्थात् लोगों को वैसी शिक्षा कैसे मिले जिससे उनकी अविद्या दूर हो और उनको नियन्त्रित स्वाधीनता भी प्राप्त हो सके? जहाँ तक शिक्षा देने की बात है, उसके लिए अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं। सभी छोटे-बड़े विद्यालय यह काम कर रहे है। उनके सिवाय समाज के सभी क्षेत्रों में, घर मे, न्यायालय मे, सभा-समिति मे ऐसी शिक्षा मिलती रहती है जिससे बुद्धि का परिष्कार होता है। यह अपरा विद्या की बात हुई। जो उत्तम अधिकारी हैं वे साधु-महात्माओं के सत्संग से परा विद्या भी प्राप्त करते हैं। शिक्षा-संस्थाओं मे राज की भी गणना है। राज न तो भौतिक शास्त्रों को स्वयं पढ़ाता है न वह ब्रह्म विद्या पढ़ाने का आश्रय है। इस सम्बन्ध मे तो वह रुपये पैसे का ही आयोजन कर सकता है—ब्रह्म विद्या के लिए तो यह भी नहीं हो सकता। पर सबसे बड़ी बात जो राज करता है, कम-से-कम जो उसे करनी चाहिए वह यह है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे जिनमें व्यक्ति को सच्छिक्षा प्राप्त करने में सहायता मिले और ऐसी परिस्थितियों को दूर कर दे जिनसे इस काम मे बाधा पड़ती है।

नियन्त्रित स्वाधीनता के सम्बन्ध में राज ही मुख्यतम संस्था है। यही वह संघटन है जो स्वाधीनता का उपभोग करने का सबको अवसर देता है और इसके साथ ही स्वाधीनता पर नियन्त्रण रखकर उसको उच्छृङ्खल स्वेच्छाचार में परिणत हो जाने से बचा लेता है।

• २३ •

पैसा : कमाई और भिखाई

(श्री जैनेन्द्रकुमार)

हमारे घरों में बच्चा कभी पढ़ने के बजाय खेलता है तो श्रीमती गुस्से में आकर कहती है, "दुष्ट, पढ़ता क्यों नहीं ?" वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब माँ कहती है, "मेरा क्या, खेलता रह, ऐसे तू ही आगे भीख माँगता फिरेगा। पढ़ेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा, नहीं तो दर-दर भटकेगा।"

लड़का भीख माँगने या पढ़-लिखकर अफसरी करने के अन्तर को न समझता हुआ झल्लाकर कह देता है, "हाँ, हम माँगेंगे भीख।"

माँ कहती है, "हाँ, भीख ही तो माँगेगा। इन लच्छनों से और तुझसे क्या होगा ? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट ! !" साथ ही दो-एक चपत भी बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बँधा हुआ नहीं है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते में मुँह डालकर बैठ जायगा, तो कभी मुँह उठाकर चलता बनेगा और बस्ते को हाथ न लगाएगा। कभी विरोध में भागकर धूप में और भी जोर-शोर से गुल्ली-डंडा खेलने लग जायगा और कभी··· आशय उसके मन का ठिकाना नहीं है।

आइए, उस भिखमंगे की बात को ही यहाँ समझें जिसके होने की सम्भावना से माँ डरती और बालक को डराती है। उस दिन अखबार में पढ़ा कि एक आदमी पकड़ा गया। वह तरह-तरह के किस्से कहकर

स्टेशन पर यात्रियों से माँगा करता था। जरूर उसमें अभिनय की कुशलता होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक, संकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बताकर सुना गया कि वह हर रोज खासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पाँच हजार की जमा मिली।

वह ऐसे पाँच हजार जमा कर पाया। सुनते हैं दस-बारह वर्ष से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पड़ौसी ने पाँच वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल में है और पड़ौसी लाला रायबहादुर हैं। कारण भिखारी की कमाई कमाई न थी, लाला की कमाई कमाई है। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला कैदी है और लाला मजिस्ट्रेट की कुर्सी पर है, यानी भीख और कमाई में फर्क है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड़ रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब कानून उसे देखेगा।

सजा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे में सोचते हैं तो दया नहीं आती, गुस्सा आता है। हम उसे धूर्त (दूसरे शब्दों में, चतुर) मानते हैं। हमें उत्सुकता होती है कि जाने उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। बदमाश, अच्छा हुआ पकड़ा गया और सज़ा मिली। हो सकता है कि उसकी सजा पर हमारे सन्तोष का कारण यह हो कि हमारी भरी जेब से इस तरह एक खतरा दूर हुआ। और झुँझलाहट का यह कारण हो सकता है कि पाँच हजार रुपये उसके पास क्यों पहुँचे, जो कहीं हमारे पास आते!

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिए जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिए कानून का सिपाही कष्ट नहीं करता, क्योंकि आसानी से लात-घूँसे मारकर या मनुष्यता हुई तो

धेला-पैसा फेंककर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब मन की बात सच कहिए। वह चतुर ठग और यह निपट भिखारी, दोनों मे आपको कौन कैसा लगता है ? चतुराई के लिए आप एक को जेल देंगे और मोहताजपन के लिए दूसरे को दया; यानी एक की व्यवस्था करेंगे, दूसरे को उसके भाग्य पर छोड़ेंगे। सच पूछिए तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आपको गुस्सा होता है; अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको ताहम आदमी मालूम होता है। पर जो उतना भी नहीं कर सकता और निपट आपकी दया पर निर्भर ही रहता है, वह आपकी आँखों में उससे गया-बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो सामने आपके हाथ फैला रहा है, झोली मे उसी के हजार रुपये हैं तो आप उसे गौर से देखेंगे, उसमे दिलचस्पी लेंगे। अपनी कक्षा से उसे एकदम अलग और तुच्छ नहीं मानेंगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा, आप चाहेंगे कि वह आपकी आँखों के आगे पड़ ही जाय, तो जल्दी-से-जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथाशीघ्र पैसा फेंककर या रास्ता काटकर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेंगे; अर्थात् झूठ-मूठ के भिखारी का आप क्रोध सह सकते हैं, सचमुच के भिखारी का नहीं सह सकते। दूसरे में हमें अपनी ही लज्जा मालूम होती है।

अब एक बात तो साफ है। वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिए और अन्न यद्यपि धरती और मेहनत से होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना नहीं जाता, खाया नहीं जाता; उससे किसी का कुछ भी काम नहीं निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिए पैसा ही। यानी पैसे में जो ताँबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी कदर ज़हर ही साबित हो, फिर भी पैसे की कीमत है। ऐसा इसलिए कि वह कीमत उस (ताँबे) की नहीं, हमारी है। हमने वह कीमत दी है, इससे हम तक और हम पर ही, वह आयद है।

पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूँघेगा भी नहीं। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिए जाने कितनी देर तक अपनी पूँछ हिलाता रहेगा! यानी, फर्जी के सिवा रोटी से अधिक पैसे में मूल्य नहीं है।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते हैं और हम ही उसे कैसे थामते है, यह एक दिलचस्प विषय है। लोग कहेंगे 'अर्थशास्त्र' का, पर सच पूछिए तो यह काम-शास्त्र का विषय है। काम का अर्थ यहाँ कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है। इस तरह पैसा असल मानव-शास्त्र का विषय है। व्यक्ति के मानस से अलग ताँबे के पैसे की अठखेलियों को समझना बिजली के बटन से अलग उसके चिराग को समझने जैसा होगा। कठपुतली खेल कर रही है, नाच-कूद दिखाती है, पर पीछे उसके तार थमे हैं बाजीगर की उँगलियों मे। पर वह तार हमें दीखता नहीं, बाजीगर दुबका है और सामने कठपुतलियों का तमाशा दीखता है। बच्चे तमाशे मे मगन होते है, पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नहीं बाजीगर से बात करेंगे। पैसे के बारे मे भी यही मानना चाहिए। उसका व्यापार आदमी के मन के व्यापार से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उँगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है। बीच का तार दीखता नहीं है, इस-लिए वह और भी अभिन्न भाव से है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए।

पर कहीं यह अर्थ को लेकर अनर्थ-व्यापार न समझा जाय। हम शास्त्रीय अर्थ नहीं जानते, किन्तु देखा है कि अर्थशास्त्र सीखने वाला उस अर्थशास्त्र को सिखाने वाला ही बनता है। उस शास्त्र-ज्ञान के कारण कभी अर्थ-स्वामी तो बनता हुआ वह पाया नहीं गया। अपने अर्थ-शास्त्र को पढ़वाने के लिए ऊपर का अर्थ-स्वामी ही अर्थशास्त्रियों को अपने अर्थ में से वेतन देने का काम जरूर-जरूर करता रहता है। इससे प्रकट है कि अर्थ का भेद अर्थशास्त्र में नहीं है, अन्यत्र है।

थोड़ी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए। इस हाथ से उस हाथ,

उस दूसरे से फिर तीसरे, फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है। उस बेचारे के भाग्य में चकराना ही है। कहीं वह बैठा कि लोग कहेंगे कि क्यों रे, तू बैठा क्यों है, चल अपना रास्ता नाप। किन्तु पैसे को अपनी यात्रा में तरह-तरह के जीव मिलते हैं। एक उसे छाती से चिपटाकर कहता है कि हाय, हाय, मेरे पैसे को छेड़ो मत, मेरी छाती के नीचे उसे सोने दो।

पर, पैसे बेचारे की किस्मत में आराम बदा हो तो सभी-कुछ न रुक जाय। इससे यदि उस प्रेमी का प्रेम पैसे की काया को छोड़ना नहीं चाहता, तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि खून हमारे बदन मे दौड़ रहा है और कोई अवयव कहने लगे कि तू कहाँ जाता है, यहीं मेरे पास रुक जा। फोड़े, जो बदन में हो जाया करते हैं, सो क्यों ? किसी खास जगह खून की गर्दिश ठीक नहीं होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल में शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त हैं। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर मे कंचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हों। पर फोड़ा फूटता है और कंचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे, पैसा बीच मे थककर बेचारा साँस लेने को रुके, तो बात दूसरी; वैसे किसी के आलिगन मे गाढ़ी नींद सोने की उसे इजाज़त नहीं है। इस निरन्तर चक्कर से बेचारा पैसा घिस जाता है, सूरत और हरुफ उस पर नहीं दीखते, तब मुँह छिपाकर जहाँ से आया वहीं पहुँचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं उसे सोलह आने को कोई पूछेगा ? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के में कीमत थोड़े थी ! जैसे डाली गई थी वैसे वह कीमत खींच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या हैं, ठन-ठन गुपाल है। बस सूरत देखिए और मन भरिए।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बड़ा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नहीं, वह तो आडम्बर है और बेजान है। वर्णन, जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते हैं—यानी सचित्र और जीवन की भाषा में। मैं मानता हूँ कि पैसे के तथ्य का किसी को अनुभव हो और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास हमें दे सकता है। पर, पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, वही उस शक्ति को बटोरने में लग गया। अब कहा जायगा कि इस जीवन में शक्ति का संग्रह भी न किया जाय तो आखिर किया क्या जाय? कुछ कहेंगे, धर्म का संग्रह किया जाय। और सच, कुछ जैसे सामान बटोरते हैं वैसे पुण्य भी बटोरते देखे जाते हैं। पर हाय, धर्म का संग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी! तब ऋषि कुटी न बनाकर गोदाम बनाते। अरे, वह तो सोने की जगह साँस के संग्रह के उपदेश जैसा है; अर्थात् अपने को लुटाओ, इसी में धर्म का अर्जन है। अब इस बात को कोई कैसे समझे और समझाए? पैसा खरचे बिना कभी जुड़ता है! और जो रुपया छोड़ सकता है, वही अशरफी जोड़ सकता है। यह क्या हम रोज आँखों नहीं देखते कि जिसकी जहाँ मुट्ठी बँधी कि वह मुट्ठी उतनी ही भरी रह गई। रुपये पर मुट्ठी लाने के लिए पैसे पर उसे नहीं बँधने देना होगा, अर्थात् लाखों की कमाई हजारों लगाए (गँवाए) बिना न होगी। इसी तरह धर्म की कमाई धन उजाड़े बिना न होगी। बात यह है कि धर्म है प्रीति। प्रीति और शक्ति में शत्रुता है। शक्ति के जोर से और सब हो जाय, प्रीति नहीं होती। इसलिए जो प्रीति कमाये, वह शक्ति खो दे।

पर यह मैं क्या कह चला? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिए। वह पैसे की काया पर न रीझे, न उसकी शक्ति पर जूझे, बल्कि उसके सत्य में ही वह तो अपनी आँख रखे। पैसे की शक्ति दिखलाई तो भला क्या दिखलाया? यह तो माया दिखलानी हुई। उसे

पैसे की अकिंचित्करता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानो उसकी सत्यता प्रकट होगी। जैसे कि आदमी प्रेम में अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखलाकर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया। वह कहाँ से आया ? मैंने कुछ मेहनत की, उस मेहनत का किसी के अर्थ मे उपयोग के रास्ते मेरी मेहनत में से अपना रुपया, और ऊपर कुछ और भी अतिरिक्त, पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मेहनत का फल उन्हें देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूँ घर। वहाँ श्रीमती जी बोलीं कि माथे की बिन्दी को कब से कह रही हूँ, लाये ? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहाँ पहुँच जाता है।···इसी तरह हम कल्पना कर सकते है कि कैसे वह आदमियों की आवश्यकताएँ पूरी करता हुआ परस्पर के आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नहीं होता। प्रेम में व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है। प्रेम वह है, जहाँ देने के जवाब मे लेने की भावना ही नहीं; अर्थात् मैं यहाँ चाँदी के एक सिक्के की बात कर रहा हूँ। प्रेम के क्षण में लाखों निछावर हो गए हैं, अर्थात् पैसा जो यहाँ से वहाँ घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताकत से नहीं, बल्कि हमारे मन की ताकत से। यह नहीं कि धन में ताकत नहीं है। ताकत तो है, पर रेल के इंजन-सी ताकत है। अब इंजन क्या अपने-आप चलता फिरता है ? यह कहना कि पटरी पर इंजन चलता है, ठीक है। हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तज़ाम जिन सरकारी मेम्बर साहब के ऊपर है, सैकड़ों हज़ारों इंजन और उनके चलाने वाले और कल-पुर्जे समझने वाले अपनी हरकत के लिए उनके ताबे है। और वह मेम्बर महाशय इंजन पर नहीं, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज़ पर निगाह रखते हैं। पर····सवारीगाड़ियाँ और माल-

गाड़ियाँ जाने कितने हज़ार व लाख टन सामान और इन्सान को खींचती हुई दिन-रात इधर-से-उधर आ-जा रही हैं। अपने दफ्तर में बैठे मेम्बर महाशय की क्या कहिए, उस रोज़ उनसे डबल वज़न का आदमी इंजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आँखों क्या आपने देखा नहीं था ? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहाँ पता-निशान बाकी नहीं रह गया था, यहाँ-वहाँ बिखरा माँस ही दीखता था।··· हाँ यह है, पर दूसरी बात भी है। इंजन की ताकत सच है, पर उन मेम्बर साहब की ताकत उस सच का भी अन्दरूनी सच है। उन्हीं की कलम तो थी जिससे पचास इंजन बेचारे बक्स मे बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्तान लदे चले आए और चालीस इंजन, जो मानते थे कि हममें अभी सिसकने लायक कुछ जान है, उनकी एक न सुनी गई और अंजर-पंजर तोड़कर उन्हें लोहे के ढेर पर फेक दिया गया।

चाँदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का इंजन भी वैसा ही सच है। फर्क इतना ही है कि सिक्का छोटा और हल्का होने से सचाई में इंजन की निस्बत बड़ा और भारी है। इंजन इतना बोझिल है कि उसीसे वह सचाई मे हल्का है। तभी तो चाँदी के रुपये और सोने के पौंड से कागज़ी नोट कीमती होता है। कारण, वह चाँदी-सोने से हल्की और सस्ती वस्तु कागज़ का बना है, अर्थात् नोट में अपनी असलियत उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के मे है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमें डालते हैं, तभी कीमत की सचाई उसमे पड़ती है। इसीलिए जैसे-जैसे उन्नति होगी, कागज़ी सिक्का बढ़ेगा, धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के मे कीमती धातु की ज़रूरत अविश्वास के कारण है, यानी वह झूठी कीमत है। फिर भी वह कीमत इसलिए है कि सच्ची कीमतों का अभी निर्माण नहीं हो पाया है। उदाहरण लीजिए, दस्तावेज़। वचन झूठा है तभी दस्तावेज़ की सचाई आती है ; कौल सच्चा हो तो दस्तावेज़ बेकार हो जाना चाहिए।

इस सबका मतलब यह कि पैसे की कीमत और शक्ति आदमी की

भावना की कीमत और शक्ति से अलग नहीं है। अर्थशास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नहीं है। यदि वे भिन्न-से लगते है, तो इस कारण कि मनुष्य ने कामना मे अपनी स्वतन्त्रता देखी है, जबकि वह स्वतन्त्रता निष्कामता में है। जो वह चाहता है और जिसको सुख का नाम देता है, समझता है उसकी कुञ्जी 'स्वर्ण' है, जैसे प्यासा हिरन रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट को पानी समझता है। पर स्वर्ण में सुख होता, तो स्वर्णाधिपों के पास वह दिखाई देता। किन्तु पूछकर देखिए। मालूम होगा कि लाख के बाद करोड़ों और करोड़ के बाद अरब पर आँख गड़ाए वे भागे जा रहे हैं, तो इसीलिए कि लाख मे जो समझा था वह नहीं मिला और फिर करोड़ में जो समझा वह करोड़ में भी नहीं मिल रहा है।

हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के में अपने-आपमें दम नहीं है। अगर एक में दम नहीं है, तो करोड़ में भी नहीं हो सकता। जिसमें आन्तरिक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़ जैसे ढेर मे भी कुछ कहाँ से आ जायगा ? मरीचिका में कुछ है तो यही कि वह मृगतृष्णा को प्यासा-का-प्यासा ही रखती है। धन भी जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि मुझमें अपना कुछ नहीं है। मेरी काया में तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डालकर मुझमे कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मै तुम्हें और क्या लौटा सकूँगा ? मुझसे तुम्हें सुख नहीं मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत, क्योंकि मै खोखला हूँ। तुम जो मरते हो, उसी से मै मर जाता हूँ। इससे मै इस लायक नहीं हूँ कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो, क्योंकि तुम्हारी ही भूखी चाह मै तुम्हारे आगे कर सकता हूँ। इससे तुम्हें सुख नहीं होता, न ही होगा। पर तुम मानते हो कि अभी मेरे परिमाण में कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे

ही कोसते हो। मैं बताता हूँ कि मैं अन्दर से रीता हूँ। मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मैं नहीं। मैं उसका द्वार हो सकता हूँ और प्रार्थना है कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाज़े को ही तुम मंज़िल समझोगे, तो दरवाज़ा इसमें क्या करेगा ? मंज़िल की तरफ वह तुम्हें बढ़ा सकता है. पर तभी जब तुम उससे पार जाओ।

आज के ज़माने में बुद्धि इसी भूल मे पड़ गई है। लिफाफे को उसने खत समझा है। इससे खत नहीं पढ़ती, लिफाफे को ही देखती-समझती रह जाती है। इसी के शाखा-विज्ञान बहुत बन गए हैं और बीच का मेरुदण्ड सूखते रहने को छोड़ दिया गया है; यानी विद्याएँ बहुत हो गई हैं, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए, अर्थात् 'ते सर्वभूतात्मरूप ब्रह्म' वह उपेक्षा में रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकड़ते हैं और हृदय को सब छोड़ते हैं। इस प्रकार की खण्डित विद्या क्या अविद्या नहीं है ? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नहीं है ?

पर हम दूर आ गए। बात कमाई और भिखाई की शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते हैं ? धन अपने चक्कर पर आ-जा रहा है। नदी बहती है; कुछ उसमे नहाते हैं, कोई उससे खेत के लिए पानी लेते हैं, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते हैं। नदी अनेकों के अनेक प्रयोजन पूरा करती हुई समुद्र मे मिलने के लिए बहती ही चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव में सबके प्रयोजनों को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया में कमाई क्या है ? सच कहूँ तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ मे नहीं आता। हरिद्वार की गंगा प्रयाग आई; जो पानी हफ्ते पहले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ्ते गंगा के इतने पानी की कमाई कर ली ? प्रयाग ऐसा नहीं सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते हैं, क्योंकि हम बुद्धिमान हैं। मेरी

तिजोरी में आज दस हज़ार रुपये हैं। बाज़ार में बैठा था, तब गाँठ में क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होंगे। तीन साल में दस हज़ार रुपये की मैंने कमाई की। वाह, क्या बात है! मैं अपने से खुश हूँ, कुनबे वाले खुश हैं, और सब मानते हैं कि मैं होनहार और कर्मण्य हूँ। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाज़ार में तीन साल लगाए और घूमा-फिरा और मेहनत की। पर वह देखिए, क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है! लड़ाई आई कि रंग में दो दिन में पन्द्रह हज़ार पैदा किये! हल्दी लगी न फिटकरी और देखते-देखते मालामाल हो गए! लक्ष्मी की लीला तो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद् पुत्र की ईर्ष्या करते हैं। यह कमाई है।

एक मज़दूर टोकरी ढो रहा है। जेठ आ रहा है; लू चल रही है। पसीना बह रहा है और वह टोकरी ढो रहा है। सूरज छिप चला; थक गया है; घर पर इन्तज़ारी होगी, पर वह टोकरी ढो रहा है। आखिर लाला को याद आई। उन्होंने छः आने दिये, यह छः आने की कमाई है।

एक मित्र हैं। उनकी खूबी यह है कि अपने पिता के पुत्र हैं। उनके पिता की खूबी थी कि वह अपने पिता के पुत्र थे। और पीछे चले तो पाँच पुश्त पहले वंश में एक पुरुषार्थी पुरुष हुआ था। उसने सामन्ती ज़माने में अपना गिरोह इकट्ठा करके एक नगर जीता और काबू किया था। उसने अपने शत्रुओं पर विजय पाई, यानी उन्हें यमराज का घर दिखाया था। उस परम पुरुषार्थ के कारण उस पुरुष के पुत्र और उसके पुत्र और उसके पुत्र, इस तरह उस परम्परा के अन्तिम पुत्र होने की खूबी से मेरे मित्र की कमाई आज तीस हज़ार रुपये साल की है। वह कहाँ से है, उनकी जायदाद और ज़मींदारी कहाँ-कहाँ है, इत्यादि मित्र को पूरी तरह पता नहीं है। पर कमाई उनकी तीस हज़ार है।

एक और भाई साहब हैं। अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि और उदार और ज्ञानी और सुशील। वह कलक्टर कहलाते हैं। उनका काम है कलक्टरी।

उनकी कमाई है पच्चीस हज़ार रुपया साल।

और एक वायसराय हैं। वायसरायगिरी करते हैं, जो बेहद ज़िम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे कूत नहीं। वह भी खासी होनी चाहिए, क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हो सकती है कि पेट न भरे, क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मेहनत से जी चुराएगा। इससे अक्ल की ही कमाई को हक है कि वह लम्बी-चौड़ी हो। मेहनत की कमाई अधिक होगी, तो उससे मेहनती का नुकसान होगा।

खैर, ऊपर तरह-तरह की कमाइयाँ गिनाई हैं। इन सबमें दो बातें सामान्य हैं, जिनकी वजह से वे सभी कमाई कहलाती हैं। एक तो यह कि कमाई करने वाला जेल नहीं जाता, इस कारण उसको चुराई या ठगाई हम नहीं कह सकते, कमाई ही कह सकते हैं। दूसरा यह कि हर कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) में आकर पड़ती है।

इस पर से दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते हैं :

१—कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी में आये वह हमारी कमाई है।

२—शर्त यह कि उसमें हमें जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है, और उस सब रुपये को खर्च करने का हमारा हक है, जो इस तरह से या उस तरह से, इस जेब से या उस से, हमारी मुट्ठी तक आ जाता है। सीमा यह कि इस तरह खर्च करने वाला खुले समाज में हो, बन्द जेल मे न हो।

सीमा की शर्त बहुत ज़रूरी है। कमाई और ठगाई में वही भेद डालने वाली रेखा है। जेल पा गए, तो तुम्हारी कमाई कमाई नहीं मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई है। और तब अपने धन के परिणाम में ही तुम्हारी ऊँचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ; पर भीख से पैसा पाने की विधि को मैं कहाँ रखूँ?

उसमें भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पा गया तो गया। पर जेल के बाहर भिखारी के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नहीं आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यंग्य है। पर मैं सच कहता हूँ कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है तो वह भीख की ही कमाई है, नहीं तो कमाई शब्द ही एकदम झूठ है।

पैसा मेरी जेब में आना कमाई है। बेशक, सिफ्त यह कि जेल मुझे न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से, या मेहनत से, मेरी जेब में पैसा आता कैसे है? इसके कई तरीके हैं।

पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज़ के लिए दूसरों मे लोभ पैदा करना कमाई बढ़ाने का पहला उसूल है। विज्ञापन और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस जेब से पैसा निकलकर आपकी जेब में आने से रुकेगा नहीं।

दूसरा है गरज। अकाल है और लोग भूखे हैं। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम चढ़ा दिए। इस तरह खिंचकर पैसा आ गया।

तीसरा है डर और अविश्वास। आगे का क्या ठिकाना, जाने कब मौत आ टूटे। तब बाल-बच्चों का क्या होगा? आग है, रोग है, चोर-डाकू हैं। इससे लाइए हमारे पास बचा-बचाकर जमा करते जाइए। हम ऊपर से ब्याज और जाने कितना और देंगे। यह भी पद्धति है जिसमे उपकार और कमाई दोनों साथ होते हैं।

या वह है जिसका नाम इंडस्ट्री (भीमोद्योग) है। हज़ारों मेहनती और भीमाकार यन्त्र। मेहनती मेहनत करते हैं, यन्त्र चलता है और कमाई मोटी होती है। इसका रहस्य उद्योग की भीमता में है, यानी हजारों का श्रम सुँतकर एक केन्द्र में पड़ता है। एक की एक-एक बूँद बचे तो हज़ारों हो जाती हैं। और बूँद-बूँद से घड़ा भरता है तो हज़ार-हज़ार बूँदों से क्या नहीं होता होगा?

या जोर-जबरदस्ती है, लेकिन उसके पीछे कोई कानूनी बल चाहिए, जैसे जमींदारी, अफसरी इत्यादि ।

एक तरीका जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है। वह खेल सम्भावनाओं पर चलता है । उसमें भी तृष्णा उकसाकर जेबों का पैसा निकाला जाता है और वह गिनी-चुनी जेबों में बह जाता है ।

एक आम तरीका है, जिसको नौकरी कहते हैं । इसमे नौकर पैसा खींचता नहीं, पैसा पाता है । यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खींच रहा होता है, वह नौकर को जिन्दा और काम लायक रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है ।

इनके बाद करुणा के जोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है । दान और भिक्षा में अधिकतर यही वृत्ति रहती है ।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है, जैसे मित्र को सहायता, परिवार का पालन आदि । वहाँ रुपये के लेन-देन में किसी एवज़ का भाव नहीं रहता ।

इन सब पद्धतियों में रुपये का आना-जाना जहाँ प्रेम के कारण होता है, उसको मै सबसे उचित समझता हूँ । उसमें न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है । मानो अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहाँ किसी को सुध ही नहीं है । पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नहीं पैदा करता, दोनों ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्ठता लाता है । पर, इस कोटि के आदान-प्रदान में कमाई शब्द काम में नही आ सकता । पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिये तो इनमे पिता को सौ का घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता । दूसरे की जेब से निकलकर अपनी जेब मे आना कमाई है, पर वहाँ दो अलग-अलग जेबें ही नहीं है ।

सच पूछिए तो मैं वही स्थिति चाहता हूँ, जहाँ कमाई खत्म हो चुकी है, जहाँ जीवन की आवश्यकताएँ ही पूरी होती हैं । न आने

वाले पैसे के प्रति लोभ है, न उसके आने मे चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है ।

उससे हटकर कमाई की जो और कोटियाँ हैं, उनमे करुणा की प्रेरणा से जहाँ पैसा आता-जाता है, वह श्रेष्ठकर मालूम होता है । वह है दान, भिक्षा । करुणा प्रेम से भिन्न है । करुणा मे बन्धन है और आत्मा पर दबाव है । उसमे दयावान और दया-पात्र मे कक्षा-भेद हो जाता है, यानी उससे दो व्यक्तियो के बीच समत्व-सम्बन्ध का भंग होता है । इसमे करुणा-प्रेरित दान अन्त में सामाजिक विषमता और जड़ता उत्पन्न करने का कारण होता है । उससे दोनों ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नहीं प्राप्त होता, बल्कि कुण्ठा और संकुचन होता है । मानो शिक्षा देने वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित् लज्जित अनुभव करता है; अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान-प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं है; अर्थात् यह कोटि पहली से उतरती हुई है, पर तीसरी कोटि से अच्छी भी हो सकती है ।

तीसरी है नौकरी और मज़दूरी की कमाई की कोटि । बिलकुल हो सकता है, और शायद है, कि नौकर और मज़दूर जिसकी मज़दूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से एकदम अश्रद्धा के भाव रखता हो । तब जो उनके बीच श्रम और वेतन का आदान-प्रदान है वह दोनों ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है ।

चौथी अथवा अन्य कोटि, जहाँ लोभ, भय, अविश्वास उकसा-कर या केन्द्रीकरण द्वारा लाभ किया जाता है, सबसे प्रचलित और सबसे वैध है । पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है ।

पाँचवीं है लाचारी से लाभ । यह निन्द्य है और कानून की उस पर रोक-थाम भी की जाती है ।

बिना मेहनत अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बल पर जो बड़ी-बड़ी कमाइयों की सुविधा मिल जाती है उसका भी औचित्य विशेष समझ में नहीं आता । जरूरी नहीं है कि एक प्रतिभाशाली पिता के

पुत्र को अपनी पैतृक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वयं कर्महीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलों को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नहीं मालूम होता।

इन सबसे परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहाँ परस्पर मे लेन-देन की भावना ही नहीं है; एक-दूसरे के हित के काम आने की भावना है। इन सम्बन्धों पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमें उसी तक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर उससे उतरकर आदमी-आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है, अर्थात् कमाई की रोटी नहीं, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुककर मुझे अपने को साफ करना चाहिए।

मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाए। अब दो बातें है—या तो मैं उसे अपनी कमाई कहूँ या फिर मैं उसे प्रकाशक की कृपा कहूँ। मैं दूसरी बात पर कायम हूँ। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सचाई नहीं जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमे ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने में मैं असमर्थ हो जाता हूँ। मानो कि मैंने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनों चुकता है। मानो कि एक-दूसरे को समझने की आवश्यकता और एक-दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते हैं। यानी हमारा आदान-प्रदान एक-दूसरे को दो किनारों पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच में खाई बन जाता है। नहीं, मैं उस रुपये को अपनी कमाई नहीं, दूसरे की कृपा मानूँगा। आप कहेंगे कि तुम हो भोले। प्रकाशक बाज़ार में बैठता है और किसी को एक देता है तब, जबकि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छापकर तुम्हें जितने दिये है, उससे चौगुने दाम अपने खरे न कर ले तो प्रकाशक

कैसा ? तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार में तुम्हें एक देकर तीन अपनी जेब मे डाले है। तुम्हारे आँखे हों तो तुम्हें कभी सन्तुष्ट न होना चाहिए। अभी एक मिलता है तो ज़रूर ले लो, लेकिन बाकी तीनों पर अपनी निगाह जमाये रखनी चाहिए। आपकी यह बात सही हो सकती है, पर फिर भी मै 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक' के शब्द को इस्तेमाल नहीं करना चाहता; क्योंकि मै नहीं चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर काँटे के तार खड़े करके मिले। ऐसे वे कभी एक-दूसरे मे घुल नहीं सकेंगे और न उनमें ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस में वे सदा कतराते रहेंगे और फल उसका वैर होगा।

इस तरह मै अपनी कमाई का खाता हूँ—इस झूठे गर्व से मै मुक्त हो जाना चाहता हूँ। अगर ईश्वर है तो मेरा-तेरा झूठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते है। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसकी अनुकम्पा भी सबमे है और उसी के बल पर हमे जीना चाहिए।

इस दृष्टि से जिसको बाकायदा कमाई कहा जाता है, उसको बढ़िया नहीं मानना होगा। उससे अहंकार का चक्र कसता और फैलता है। उससे मै-तू और मेरा-तेरा बढ़ता है।

मै जानता हूँ कि हमारे समाज में एक चीज़ है, इज्ज़त। उसको धुरी मानकर हमारा सभ्य जीवन चला रहा है। अरे, हरेक अपनी इज्ज़त रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज्ज़त को मज़बूत और ऊँची बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यों नीची हो ? नवाब घर का नवाब हो, अपने घर में हम भी नवाब है। इस तरह कमाई पर टिककर हम अपना आत्म-गर्व सुरक्षित करते है। इस तरह हम इस लायक होते है कि किसी को अपने से छोटा समझे।

इसमें तथ्य भी हो। पर जो अतथ्य है, वही मै दिखाना चाहता हूँ। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव में विनम्र बनने से बचते है; अपने इर्द-गिर्द इज्ज़त का घेरा डालते है, जो हमारे विकास को

रोकता है। हम उससे अहम् को केन्द्रित करते है और फलतः सेवा-कार्य के लिए निकम्मे होते है।

संक्षेप मे, अपने लिए, मै कमाई के धन को नहीं, कृपा के अन्न को अच्छा समझता हूँ। कमाई मे आगे की चिन्ता है, आगे का अन्त नहीं; इससे चिन्ता का भी अन्त नहीं। दस हजार है तो वह थोड़े; पचास हजार है तो पाँच बेटों में बँटकर भला वह क्या रह जायँगे? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़-का-पहाड़ हम अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। तब चिड़िया जैसे सवेरा निकलते ही चहचहाती है, वैसे हम नहीं चहचहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योंकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम धर लेते है। मस्तक तब आकाश मे नहीं उठ सकता। दूसरे का दुःख देखने की फुरसत नहीं रहती, क्योंकि हम अपने और अपनों से दब जाते है।

नहीं-नही, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शंका करके आज को मै नष्ट कैसे करूँ? और यह सच है कि आज यदि नष्ट नहीं होगा तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दबाव मे आज को हाथ से जाने देते है तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।